मानवता के मूल सिद्धान्त

देवकी

प्रकाशक

मानव सेवा संघ

वृन्दावन

मूल्य ५० न० पै०

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)

पहली बार : ५०००
फरवरी, १९६१
मूल्य ५० न० पै०

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी।

भूमिका

सृष्टि की रचना विचित्र है ! एकता में अनेकता और अनेकता में एकता का बहुत सुन्दर सामञ्जस्य है। मानव-जीवन में यह सामञ्जस्य और भी अद्भुत रूप से उपस्थित है। कुछ बातों में तो इतनी भिन्नता पायी जाती है कि दो व्यक्ति भी एक समान नहीं होते। आकृति रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति भेद से प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग का निराला व्यक्तित्व पाता है, परन्तु कुछ बातों में मानव मात्र में एकता भी है। जैसे––

(१) आकृति, रुचि, योग्यता एवं परिस्थितियाँ एक दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न हो, सुख-दुःख युक्त वर्तमान वस्तु-स्थिति में संतोष किसी को नहीं है। इस दृष्टि से सभी एक हैं।

(२) मृत्यु के भय, असमंथता तथा पराधीनता की पीड़ा और नीरसता के दुःख से सभी दुःखित हैं। दुःख-निवृत्ति, चिरविश्राम, पूर्ण स्वाधीनता एवं नित-नव-रस की माँग सबको है। इस माँग की पूर्ति से पहले अभाव नहीं मिटता अर्थात यह मौलिक माँग हैं। मौलिक माँग की दृष्टि से भी मानव मात्र एक है।

(३) प्रकृति के विधान से मौलिक माँग की पूर्ति की सामर्थ्य मानव मात्र को मिली है और माँग की पूर्ति में सभी समान रूप से स्वाधीन हैं।

(४) माँग की पूर्ति में जो जीवन है वह जीवन भी सबका एक है।

(५) इस तरह हम पायेंगे कि जीवन के कुछ पहलुओं में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है और कुछ पहलुओं में अखिल विश्व वासी सभी मानव एक हैं।

आकृति, रुचि, योग्यता, मन, विचार, सम्प्रदाय, भाषा और रहन-सहन की भिन्नता के आधार पर उत्पन्न भेदभाव के कारण मानव-समाज में ईर्ष्या, द्वेष एवं संघर्ष का सृजन होता रहता है। संघर्ष एवं संहार किसी को भी प्रिय नहीं है। फिर भी भेद के रहते हुए संघर्ष का अन्त नहीं होता।

इस भेद बुद्धि का अन्त मानव की मौलिक प्रीति की एकता के आधार पर हो सकता है। अतः मानव की मौलिक एकता को आधार बनाकर मानव-दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। मानव-दर्शन का ठीक-ठीक बोध हो जाने पर अनेकता में एकता का स्पष्ट दर्शन होता है, जो भेद का नाशक है। संघर्ष और अशान्ति, जो अमानवता के प्रतीक हैं उनको मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि

हम मानव -जीवन में उपस्थित अनेक प्रकार की भिन्नता में भी मौलिक एकता को महसूस (Realise) करें।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान दुःखद, असन्तोष-दायक वस्तुस्थिति से ऊपर उठकर वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए जब साधन-निर्माण का प्रश्न आता है तब व्यक्ति की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) को ध्यान में रखना अनिवार्य है। साधक को उसकी रुचि, योग्यता आदि व्यक्तिगत बातों को ध्यान में रखकर ही उसे परामर्श दिया जा सकता है। तभी उसका साधन उसका जीवन बन सकता है और उसी साधन से उसको सफलता मिल सकती है।

आज व्यक्तिगत जीवन का दुःख द्वन्द्व एवं अभाव इस लिए नहीं मिटता कि साधक अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचित हुए बिना ही तथा अपनी माँग एवं अपने उत्तर-दायित्व को ठीक-ठीक जाने बिना ही मनमाने ढंग से साधन करने लगते हैं। ऐसा करने से अपना विकास तो होता नहीं है, अपितु अपनी साधन प्रणाली का एक आग्रह और पैदा हो जाता है जो व्यक्ति के लिए हानिकारक ही है।

आज सामाजिक जीवन की अशान्ति, संघर्ष एवं संहार इसलिए नहीं मिटता कि हम अनेकता में एकता

का दर्शन नहीं करते। अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी प्रीति की एकता सुरक्षित रह सकती है, इस बात को हम महसूस नहीं करते, अनुभव नहीं करते या नहीं समझते।

हम भूल जाते हैं कि मानव की मौलिक माँग एक है। वास्तविक जीवन एक है। उस जीवन से अभिन्न होने के लिए मानवता के मूल सिद्धान्त भी सबके लिए एक हैं, जो व्यक्ति एवं समाज की समस्याओं को मिटाने में हेतु हो सकते हैं।

मानव जाति की मौलिक एकता के आधार पर मानव-दर्शन का प्रतिपादन हुआ है। इस दर्शन के अनु-सार मानव, कामना, जिज्ञासा एवं प्रियता की लालसा का पुंज है और कुछ नहीं है, जिसमें से कामना का नाश होता है, जिज्ञासा की पूर्ति होती है और प्रियता की अभि-व्यक्ति होती है। कामनाओं के नाश से दुःख की निवृत्ति एवं चिरविश्राम तथा आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। जिज्ञासा की पूर्ति से देहाभिमान का नाश तथा वास्तविक जीवन का बोध होता है और प्रियता की अभिव्यक्ति से नित-नव-रस की उत्पत्ति होती है, जो मानव की अन्तिम तथा वास्तविक माँग है। चिरविश्राम-जनित सामर्थ्य की अभिव्यक्ति से जीवन जगत के लिए, वास्तविक जीवन के बोध से जीवन अपने लिए और नित-

नव-रस की अभिव्यक्ति से जीवन जगत-पति के लिए उपयोगी होता है। यह मानव-जीवन की महिमा है। यह जीवन मानव-मात्र को मिल सकता है।

दर्शन के अनुरूप जीवन को बनाने के लिए मानवता के मूल सिद्धान्त भी सबके लिए समान हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं सिद्धान्तों का उल्लेख एवं विस्तृत व्याख्या आपको मिलेगी। इन सिद्धान्तों को अपनाकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी माँग पूरी कर सकता है। यह सिद्धान्त मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान कराने में समर्थ हैं। इतना ही नहीं "मानवता के मूल सिद्धान्त" में जिन सिद्धान्तों का परिचय आप पायेंगे वे मानवता के विकास के लिए अनिवार्य भी हैं। क्योंकि उनको अपनाये बिना किसी भी व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। साथ ही मानव-जीवन के मौलिक तत्त्वों पर आधारित होने के कारण यह सिद्धान्त सर्वसमर्थित भी हैं, किसी का कोई विरोध इनके साथ नहीं है। धर्म, सम्प्रदाय, इज्म् एवं दर्शन विशेष की सीमाओं से रहित ये ऐसे निर्पेक्ष सिद्धान्त हैं कि इनका आग्रहपूर्वक समर्थन या विरोध किसी के साथ नहीं है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, ईश्वरवादी अथवा अनी-श्वरवादी, भौतिकवादी अथवा अध्यात्मवादी, किसी

मजहब तथा इज्म का क्यों न हो, इन सिद्धान्तों को अपना कर अपने जीवन में मानवता का विकास कर सकता है, जिसके बिना किसी के जीवन में सुन्दरता नहीं आ सकती। परन्तु मानवता के विकसित होते ही मानव मात्र का जीवन आदर्श हो जाता है। इतना ही नहीं, वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से चमत्कृत आधुनिक युग के बुद्धिवादी व्यक्ति को भी मानवता की राह ही राहत दे सकती है।

इन सिद्धान्तों में किसी व्यक्ति का किसी इज्म का अथवा किसी मजहब का आग्रह नहीं हो सकता कि यह अमुक के सिद्धान्त हैं। ये मानव मात्र के सिद्धान्त हैं। जब इनमें किसी का आग्रह नहीं हो सकता तो ये सिद्धान्त किसी के लिए त्याज्य नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त माँ धरित्री के समान है। वसुन्धरा जैसे सब प्रकार के पौधों को आश्रय देकर उनकी प्रकृति के अनुसार उनका विकास करती है उसी प्रकार इन सिद्धान्तों से पोषित मानवता से सभी मत सम्प्रदाय, इज्म्स एवं मजहबों के व्यक्तियों को सफलता का दर्शन होगा। अतः "मानवता के मूल सिद्धान्त" पुस्तक मानव मात्र के लिए कल्याणकारी है।

प्रस्तुत पुस्तक में ग्यारह नियम दिये गये हैं जो जीवन के सर्वतोमुखी विकास में सहायक हैं। प्रथम चार,

आठवाँ, नवाँ और ग्यारहवाँ आन्तरिक जीवन से तथा पाँचवा, छठा, सातवाँ और दशवाँ बाह्य जीवन से अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस प्रकार यह नियम शारीरिक, मानसिक, आन्तरिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों का सांगोपांग विकास करते हुए साधक को वास्तविक-जीवन से अभिन्न कराने में समर्थ हैं।

इलाहाबाद,

माघमेला कैंप

दिनांक २१-१-६१

बसन्त पञ्चमी, वि० सं० २०१७

विनीता

देवकी

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी

सुधामयी,

सर्व समर्थ,

पतित पावनी,

अहैतुकी कृपा से

दु:खी प्राणियों के हृदय में

त्याग का बल

एवं

सुखी प्राणियों के हृदय में

सेवा का बल

प्रदान करें;

जिससे वे,

सुख दु:ख के बन्धन से

मुक्त हो,

आपके

पवित्र प्रेम का

आस्वादन कर,

कृत-कृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है)

प्रार्थना की व्याख्या

प्रार्थना, प्राणी की वास्तविक पुकार है। ज्यों-ज्यों अपनी निर्बलताओं से प्राणी परिचित होता है त्यों-त्यों स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। अपनी निर्बलता का ज्ञान विकास का मूल है, क्योंकि वर्तमान की आवश्यकता से ही भविष्य की उपलब्धि होती है। आवश्यकता उसी की होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता और मानी हुई भिन्नता हो। मानी हुई भिन्नता प्रमाद को उत्पन्न कर प्राणी को अनेक निर्बलताओं में आबद्ध कर देती है। ज्यों-ज्यों निर्बलता जनित वेदना बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उन निर्बलताओं का अन्त करने के लिए स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। प्रार्थना उसी के लिए होती है जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रार्थना सफलता की कुञ्जी है। प्रार्थना प्राणी मात्र को स्वभाव से ही अभीष्ट है। दार्शनिक दृष्टि तथा मान्यताओं का भेद होने पर भी प्रार्थना सभी की एक है, कारण कि स्वाभाविक आवश्यकता सबकी एक और अस्वाभाविक इच्छाएँ अनेक हैं। प्रार्थना का उद्गम स्थान स्वाभाविक आवश्यकता है जो बीज रूप से प्राणी मात्र में एक ही है।
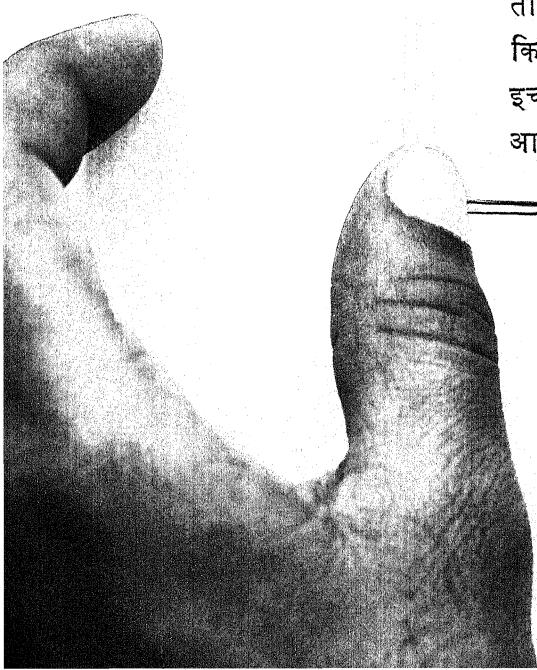
अस्वाभाविक इच्छाओं में भेद होने से मान्यताओं में भले ही भेद हो, परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता एक होने से मानव मात्र का जीवन एक है। इस दृष्टि से मानव सेवा संघ की प्रार्थना मानव मात्र के लिए हितकर है। उस प्रार्थना का प्रथम वाक्यांश है "मेरे नाथ !"

"मेरे" और "नाथ" इन शब्दों से जो ध्वनि निकलती है, वह प्रार्थी में प्रियता, निर्भयता तथा निश्चिन्तता जाग्रत करती है, कारण कि "मेरे" शब्द में आत्मीयता की अभि-व्यक्ति है। आत्मीयता प्रियता की जननी है। प्रियता स्वभाव से ही रस रूप है। इस कारण प्रियता नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही खिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही, क्षोभ तथा क्रोध आदि विकारों का अन्त हो जाता है। क्षोभ का अन्त होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग होने लगता है और क्रोध का अन्त होते ही विस्मृति मिट जाती है अर्थात कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है।

,,नाथ" उसी को कह सकते हैं जो समर्थ तथा रक्षक है। उसके होते हुए निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्वभाव से ही आ जाती है। निश्चिन्तता, व्यर्थ चिन्तन तथा निराशा को खा लेती है और निर्भयता प्राप्त का सदुपयोग कराने में समर्थ होती है। अतः "मेरे नाथ" वाक्यांश के अर्थ का

स्फुरण होते ही निराशा में आशा और असफलता में सफलता का दर्शन होने लगता है और जीवन एक नवीन उत्साह तथा उत्कंठा से परिपूर्ण हो जाता है।

इस प्रार्थना में प्रार्थी अपनी मूल निर्बलताओं को जान कर प्रार्थ्य की कृपाशक्ति की महिमा पर श्रद्धा करता है। मूल निर्बलताएँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं :—(१) जीवन की माँग अर्थात मृत्यु का भय प्राणी मात्र में स्वभाव से है। (२) सामर्थ्य की माँग अर्थात अपनी असमर्थता के दोष से भी प्राणी मात्र भलीभ ति परिचित है। (३) पवित्रता अर्थात जो भूल हो चुकी है उससे छुटकारा पाने की रुचि भी प्राणी मात्र में स्वभाव से है। यह नियम है कि जिससे प्रार्थना की जाती है उसकी महिमा में श्रद्धा करना अनिवार्य हो जाता है। निर्बलता के अनुरूप प्रार्थना और प्रार्थना के अनुसार प्रार्थ्य की स्तुति स्वभाव से ही होने लगती है। इस कारण इस प्रार्थना में अपने प्रार्थ्य की कृपा-शक्ति की महिमा में चार प्रकार के विशेषण स्वीकार किये गये हैं। सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतितपावनी और अहैतुकी।

सुधामयी होने से मृत्यु का भय शेष नहीं रहता और सर्व समर्थ होने से असमर्थता का दोष मिट जाता है। पतितपावनी होने से पवित्रता आ जाती है और अहैतुकी होने के कारण प्राणी मात्र उस कृपाशक्ति का अधिकारी

हो जाता है। निर्बलताएँ तीन प्रकार की हैं और हमारे जो अपने प्रार्थ्य हैं उनकी कृपा में चार विशेषण हैं। इस दृष्टि से प्रार्थी और प्रार्थ्य के बीच निःसंकोच सम्बन्ध की स्थापना हो सकती है अर्थात हम सब प्रार्थी होकर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छा की निवृत्ति कर सकते हैं। इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रार्थना मानव मात्र के विकास का अचूक उपाय है।

इस प्रार्थना में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि यह प्रार्थना किसी व्यक्ति, दल, सम्प्रदाय, देश, जाति और वर्ग विशेष आदि के लिए नहीं की गई है, अपितु विश्व से एकता स्वीकार कर प्राणी मात्र के हित के लिए की गई है। दूसरी बात यह है कि इस प्रार्थना में जो अपने आप विधान के अनुसार हो रहा है उसका विरोध नहीं किया गया है अर्थात प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की प्रार्थना है, किसी अप्राप्त परिस्थिति की माँग नहीं है। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी अंश में सुखी और किसी न किसी अंश में दुःखी है अथवा यों कहो कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन सुख तथा दुःख से युक्त है। यह सभी को मान्य होगा कि जिसमें सतत परिवर्तन है उसमें न तो स्थिति ही सिद्ध हो सकती है और न उसका

स्वतंत्र अस्तित्व ही हो सकता है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं उसको जीवन स्वीकार करने में निज-विवेक क विरोध है। यह अवश्य कह सकते हैं कि प्राप्त परिस्थिति वास्तविक जीवन न होने पर भी वास्तविक जीवन की साधन सामग्री अवश्य है। इस दृष्टि से सुख तथा दुःख का सदुपयोग ही मानव मात्र का कर्त्तव्य है। उसी कर्त्तव्य-परायणता को अपनाने के लिए इस प्रार्थना में दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का और सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करने की उस अपने नाथ से, जिसकी कृपा सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतितपावनी एवं अहैतुकी है, प्रार्थना की गई है।

यदि हम गंभीरता पूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट विदित होगा कि कोई भी दुःखी दुःख के भय से उस समय तक रहित नहीं हो सकता जब तक उसमें त्याग का बल न आ जाय और कोई भी सुखी उस समय तक सुख-भोग की आसक्तियों से मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसमें सेवा का बल न आ जाय। यह नियम है कि दुःख के भय और सुख की दासता से रहित हुए बिना परस्पर में एकता नहीं हो सकती अर्थात समस्त विश्व एक जीवन है, यह अनुभव नहीं हो सकता और इसके हुए बिना संघर्षों का अन्त सम्भव नहीं है अर्थात शान्ति की स्थापना उस समय तक नहीं

हो सकती जब तक सुखियों और दुःखियों में अभिन्नता न हो जाय। अब यदि कोई यह कहे कि भला बेचारा दुःखी क्या त्याग करेगा ? तो यह कहना होगा कि जिसके अभाव से दुःखी दुःख भोग रहा है, यदि उसकी वासना का त्याग करने में समर्थ हो जाय तो भयंकर से भयंकर दुःख अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार त्याग से उदारता और उदारता से त्याग की पुष्टि होती है। कोई भी सुखी पर-दुःख से दुःखी हुए बिना करुणित नहीं हो सकता और करुणित हुए बिना सुख-भोग की रुचि का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि करुणा का रस सुख-भोग की रुचि से कहीं मधुर और सरस है। सुख-भोग की रुचि का अन्त होने पर ही बेचारा सुखी, सुख की दासता से मुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दुःखी का कर्त्तव्य है त्याग और सुखी का कर्त्तव्य सेवा। सर्वांश में तो कोई व्यक्ति केवल सुखी अथवा केवल दुःखी होता नहीं। अतः जिस अंश में प्राणी दुःखी हो उस अंश में त्याग और जिस अंश में सुखी हो उस अंश में सेवा को अपनाकर सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी मानव मात्र हो सकता है।

समस्त विश्व एक जीवन है। यही भौतिक दर्शन की

पराकाष्ठा है। प्राणी मात्र के वर्तमान जीवन में सुख-दुःख है, यह मानव मात्र की अनुभूति है। सुख-दुःख के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से प्रार्थना का वह अंश, जिसमें प्राणी मात्र में सेवा और त्याग का सामर्थ्य प्रदान करने की बात कही गई है, भौतिक विकास की चरमसीमा है और विश्व शान्ति का सुगम उपाय है।

प्रार्थना का वह भाग जिसमें प्राणी मात्र के सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त होने की बात कही गई है, अध्यात्म-वाद की परावधि है, कारण कि सुख की दासता तथा दुःख के भय से मुक्त होने पर ही व्यक्ति देहाभिमान से रहित हो सकता है। देहाभिमान का गल जाना ही वास्तव में अध्यात्मवाद है, कारण कि सभी वस्तु, अवस्था तथा परि-स्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना ही अध्यात्म-वाद है। देहाभिमान के रहते हुए क्रिया, चिन्तन एवं स्थिति आदि अवस्थाओं से असंगता सम्भव नहीं है और सुख की दासता तथा दुःख का भय रहते हुए देहाभिमान का अन्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना में प्राणियों के सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। यह नियम है कि देहाभिमान गलते ही अपने आप निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अन्त

होते ही भेद तथा भिन्नता स्वतः गल जाती है, जिसके गलते ही पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति अपने आप होती है, जो वास्तव में आस्तिकवाद है। अतः प्रार्थना के अन्तिम भाग में पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य होने की प्रार्थना की गई है।

यद्यपि प्रेम पवित्र ही है, परन्तु पवित्र विशेषण केवल इस कारण लगाया गया है कि जिससे प्रेम के उच्चतम स्तर का प्रकाशन हो सके। वास्तव में तो प्रेम क्षति और पूर्ति से रहित है, क्योंकि निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है; प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है, क्योंकि प्रेम स्वभाव से ही सभी को अभीष्ट है। इतना ही नहीं, प्रेम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, कारण कि प्रेम के बदले में प्रेम ही हो सकता है, कुछ और नहीं। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही परस्पर में प्रेमी तथा प्रेमास्पद हैं। प्रेम स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा रस रूप है। पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर प्रेमी बे मन का हो जाता है अर्थात उसके पास अपना मन नहीं रहता। प्रेमास्पद के मन की बात ही उसके अपने मन की बात है। प्रेमास्पद का रस ही उसका अपना रस है। वियोग तथा मिलन दोनों दशाओं में प्रेम की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है,

क्षति नहीं। प्रम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। इस कारण प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता निहित है, जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है।

प्रार्थना के प्रथम अंश में उससे आत्मीयता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जिसकी कृपा सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतितपावनी तथा अहैतुकी है। दूसरे अंश में प्राणी मात्र से एकता स्वीकार कर सुखियों में सेवा और दुःखियों में त्याग के बल की बात कही गई है, जो वास्तव में कर्त्तव्यपरायणता है। तीसरे अंश में सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त होने की बात कही गयी है, जो वास्तविक आध्यात्मिकता है। चतुर्थ भाग में प्राथ्र्य के पवित्र प्रेम की याचना कर कृतकृत्य होने की प्रार्थना की गयी है, जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रार्थना में व्यक्तिगत रूप से अपने लिए कोई माँग नहीं की गयी अथवा यों कहो कि विश्वजीवन से अलग कोई व्यक्तिगत जीवन नहीं है अर्थात शरीर और विश्व, व्यक्ति और समाज, प्रेमी और प्रेमास्पद में एकता स्वीकार की गयी है।

अब यदि कोई कहे कि प्रार्थना करने मात्र से क्या समानता हो सकती है? तो यह कहना होगा कि विकास की दृष्टि से यह नियम है कि भावनाओं के अनुरूप ही कर्म और कर्म के अनुसार ही परिस्थिति बनती है। अतः

प्रार्थना में की हुई पवित्र भावनाओं से कर्म की शुद्धि और कर्म की शुद्धि से अनुकूल परिस्थिति अवश्य बन सकती है। परन्तु पवित्र भावनाओं में सजीवता तथा दृढ़ता लाने के लिए यथा-शक्ति प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करना अनिवार्य है। यह नियम है कि ज्ञान, भाव तथा कर्म की एकता होने पर ज्ञान के अनुरूप जीवन स्वतः हो जाता है। अतः इस प्रार्थना में सभी समस्याओं का हल निहित है। पर यह रहस्य वे ही जान सकते हैं जो विकल्प रहित विश्वास के आधार पर प्रार्थ्य की सत्ता स्वीकार करते हैं और निज-विवेक के प्रकाश में अपनी निर्बलताओं को जानते हैं। अपनी निर्बलताओं के ज्ञान में और अनन्त की महिमा की श्रद्धा में प्रार्थना स्वतःसिद्ध है। अब यदि कोई यह कहे कि जिसे अनन्त की महिमा में स्वभाव से श्रद्धा न हो, वह प्रार्थना कैसे कर सकता है? तो कहना होगा कि अपनी निर्बलता के ज्ञान में ही किसी महानता की स्वीकृति स्वतः-सिद्ध है, क्योंकि किसी की आवश्यकता का अनुभव होना ही उसके होने में हेतु हो जाता है, जिसकी वह आवश्यकता है। अतः किसी आवश्यकता का होना ही अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में स्वतः सिद्ध है। प्रार्थना वही नहीं कर सकता जिसे अपनी आवश्यकता का ज्ञान न हो। भला

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसकी कोई आवश्यकता न हो ? यदि नहीं है तो प्रार्थना करना सभी के लिए स्वाभाविक हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि उपर्युक्त प्रार्थना में जीवन की सभी समस्याओं का हल है और उसमें किसी सम्प्रदाय विशेष का समर्थन अथवा विरोध नहीं है, अपितु सभी समस्याओं को हल करने की माँग है। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना मानव मात्र को अवश्य करनी चाहिये।
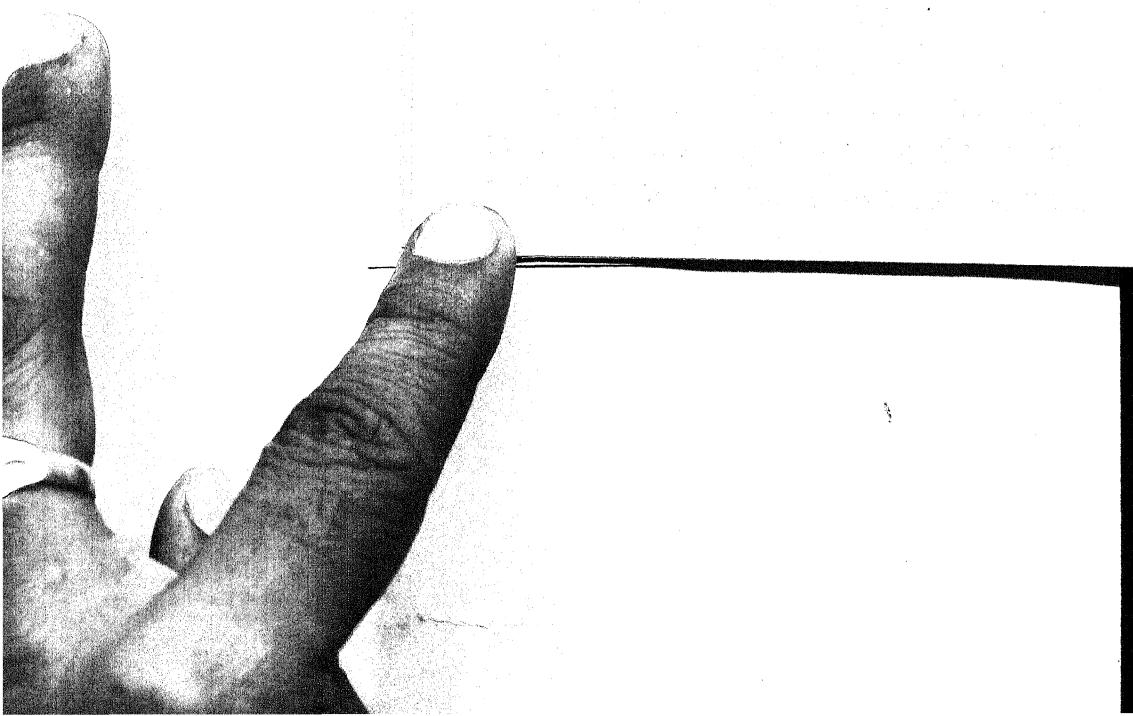
पहला नियम

आत्म-निरीक्षण अर्थात प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

आत्म-निरीक्षण का वास्तविक अर्थ है अपने पर अपना नेतृत्व करना। अपना निरीक्षण अपने बनाये हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहला उपाय है। अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि निज-विवेक के प्रकाश में देखे हुए दोष सुगमता से मिटाये जा सकते हैं।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख सके अथवा सत्य से अभिन्न और अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिये कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया अर्थात अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त विवेक का आदर नहीं किया, कारण कि विवेक के आदर में ही अपने निरीक्षण की पूर्णता निहित है। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती, कारण कि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है उसमें

अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों से किसी न किसी प्रकार के बल का अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, पर वह स्वयं अपने प्राप्त बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है। यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है ?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के बल अर्थात तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता-बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, विद्या अर्थात ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से अविवेक की वृद्धि, तन-बल के दुरुपयोग से हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म, इसी प्रकार के अनेक दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रह कर दूसरों की हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय बैर-भाव से भर जाता है,

यही संघर्ष का मूल है। अतः संघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहन को अपना हृदय बैर-भाव से रहित करना होगा। बैर-भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है, पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिंसात्मक प्रयोगों से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेक पूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दंड देने की व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों को अहिंसक, निर्बैर, उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण देखना चाहता है, किन्तु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता। अपने प्रति मधुरता-युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवम् कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है। इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी

और दूसरों के प्रति दोषी हो जाता है, जो सभी दुःखों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को धैर्य के साथ हर्ष पूर्वक सहन करते हुए यदि अन्यायकर्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर उससे (जिसके प्रति अन्याय हो गया है) क्षमा माँग ली जाय एवं, इस प्रकार उससे क्षमा याचना के द्वारा अपने प्रति न्याय करके स्वयं दंड स्वीकार कर लिया जाय तो राग त्याग में बदल जाता है।

जब राग और द्वेष, त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं तब असंगता और अभिन्नता स्वतः आ जाती है अथवा यों कहो कि मुक्ति और भक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, यही वास्तविक आनन्द है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं तब इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से हम क्रिया-जन्य सुख की आसक्ति तथा परतन्त्रता, जड़ता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अन्त में हम शक्ति-हीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके

फलस्वरूप शक्ति-हीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के ही आवश्यक शक्ति की उपलब्धि होती जाती है।

शक्ति-हीनता, जड़ता, विषमता इत्यादि दुःखों से दुःखी होकर यदि हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जायँ, तो भोग योग में, जड़ता चेतना में, विषमता समता में, पराधीनता स्वाधीनता में और अनेकता एकता में बदल जाती है। फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है, जो मानव की माँग है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट एवं स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म-निरीक्षण है, उसके बिना हम अपने को निर्दोष नहीं बना सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है। यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं—पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव

पराये दोष न देख कर अपने दोष देखने में सतत प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं, पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वतः निर्दोषता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है, किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य-तत्त्व बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है एवं परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन, हीन, अभिमानी और परतन्त्र बना लिया है। इस दुःखद बंधन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में (जो चिर सत्य है) अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाये।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का सम्बन्ध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर

किसी प्रकार का दुःख शष नहीं रहता। प्रिय स प्रिय वस्तु और व्यक्ति से सम्बन्ध स्वीकार करके भी प्राणी उससे अपने को अलग करना चाहता है, कारण कि सबसे अलग हुए बिना वह चिर-शांति तथा शक्ति नहीं पाता, जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय से प्रिय प्रवृत्ति से थक कर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है। यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दुःख शेष नहीं रहता तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपरत हो जाता है और किसी ऐसे जीवन की खोज करता है जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दुःख-रहितता तो हो, किन्तु संज्ञा-शून्यता न हो। उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे भी उत्थान देखता है तब उत्थान-रहित, अलौकिक, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन के लिए व्याकुल होता है अर्थात निर्विकल्प-बोध की लालसा करता है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वतःसिद्ध है। इस स्वतः-सिद्ध अनन्त जीवन की रुचि मानव मात्र में स्वभाव से ही विद्यमान है। इसके लिए सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है। अवस्थाओं से विमुख होते ही इस अवस्थातीत जीवन का अनुभव हो जाता है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय

और अध्ययन है, कारण कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी उस सत्य-तत्त्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें सदैव विद्यमान हैं। अतः अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य-तत्त्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है, वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के द्वारा सत्य से अभिन्न तथा असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्म-निरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ तथा सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता। वह केवल मस्तिष्क का संग्रह बन जाता है, जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है। नक्शा हमें वास्तविकता तक पहुँचाने का साधन अवश्य है, परन्तु उसे देखकर सन्तोष करने से न तो एक बूँद जल मिलेगा, न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-साथ ही हमें सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिये। आत्म-निरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं तब फिर हमारे द्वारा कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती जिसमें दूसरों की प्रियता तथा हित निहित न हो।

जब हम प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान
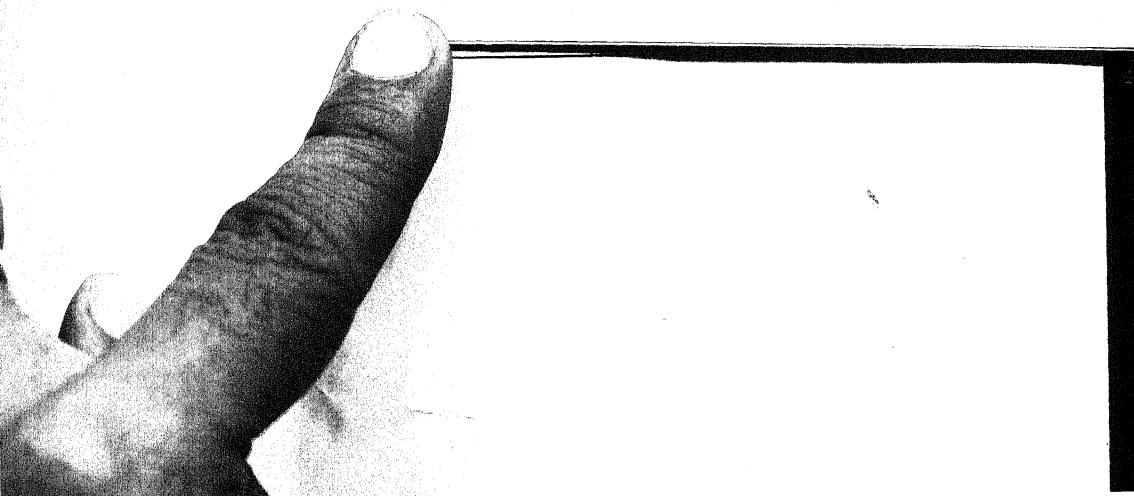
वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करते हैं तब हमें अपने में भोगों की इच्छा अर्थात इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में प्रवृत्ति तथा वास्तविक स्वाधीनता अर्थात वस्तु अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन की अभिलाषा—ये दो बातें दिखाई देती हैं। जिन्हें भोग-इच्छा कहते हैं उनकी उत्पत्ति एक मात्र 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर अथवा 'यह' को अपना मानने पर होती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' मान लेना निज ज्ञान के विपरीत है, फिर भी हम उस ज्ञान का अनादर करके 'यह' (शरीर) से तद्‌रूप होकर अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेते हैं, जो सभी दु:खों का मूल है। 'यह' को 'मैं' मान लेने पर तो 'यह' की सत्यता दृढ़ होती है और 'यह' को 'अपना' मान लेने पर 'यह' के प्रति प्रियता उत्पन्न होती है। वही धीरे-धीरे कालान्तर में आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। 'यह' की सत्यता और प्रियता में आबद्ध प्राणी अपने वास्तविक नित्य जीवन से विमुख हो जाता है। 'यह' के न रहने पर भी जो रहता है अथवा जब 'यह' नहीं था तब भी जो था एवं जिसके प्रकाश से 'यह' प्रकाशित है वही वास्तव में अपना नित्य अनन्त जीवन है। उस नित्य जीवन के अनुभव बिना किसी को भी चिरशांति एवं स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती—यह निर्विवाद सिद्ध है।

यदि प्राणी निज विवेक के प्रकाश में न तो 'यह' को 'मैं' स्वीकार करे और न 'यह' को 'अपना' माने तो अपने आप ही निर्वासना आ जाती है, क्योंकि फिर सीमित अहं भाव शेष नहीं रहता, साथ ही उससे अभिन्नता हो जाती है, जो भक्तों का भगवान, तत्त्ववेत्ताओं का निज स्वरूप, योगियों का योग तथा सभी का सब कुछ है।

'यह' और 'मैं' का विभाजन 'है' से अभिन्न करने का उपाय है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से लालिमा उत्पन्न होती है और दोनों के विभाजन से लालिमा मिट-जाती है उसी प्रकार 'यह' और 'मैं' के विभाजन से 'अहं' और 'मम' रूपी लालिमा सदा के लिए मिट जाती है और केवल अनन्त नित्य जीवन ही शेष रहता है, जो वास्तव में मानव की माँग है।

भौतिकवादी 'मैं' और 'वह' को 'यह' में विलीन कर विश्व से अभिन्न हो जाते हैं। आस्तिकवादी 'यह' और 'मैं' को 'वह' में विलीन कर दिव्य चिन्मय हो जाते हैं और अध्यात्मवादी 'यह' और 'वह' को 'मैं' में विलीन कर आत्म-तत्त्व से अभिन्न हो जाते हैं।

भौतिकवाद विश्व की एकता अर्थात करुणा एवं प्रसन्नता में रत करता है। आस्तिकवाद में केवल प्रेम ही प्रेम शेष रहता है। अध्यात्मवाद अपने में ही सब कुछ पा लेता है।

भौतिकवाद देह और विश्व की एकता सिद्ध कर प्राणी को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर सुख-दुःख का सदुपयोग कराने में समर्थ है। आस्तिकवाद प्राणी को सुख-दुःख से अतीत, अखंड, अनन्त रस प्रदान करता है और अध्यात्मवाद प्राणी को अखण्ड एक रस प्रदान करता है। भौतिकवाद की परावधि अध्यात्मवाद से अभिन्न कर आस्तिकवाद में प्रवेश कराती है।

भौतिकवाद में प्राणी तभी तक आबद्ध है जब तक कर्त्तव्यपरायणता सर्वांश में सिद्ध नहीं होती अर्थात जब तक वह विश्व से मिली हुई वस्तुएँ--सामर्थ्य, योग्यता आदि विश्व की सेवा में समर्पित कर समाज के ऋण से मुक्त हो निरभिमानता से अभिन्न नहीं हो जाता।

सारी सृष्टि 'यह' के अर्थ में आ जाती है। शरीर संसार-रूपी सागर का एक बिन्दु मात्र है। अतः शरीर रूपी बिन्दु को संसार रूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग है, कारण कि व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों का समूह मात्र है और कुछ नहीं। जब प्राणी समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए अपने अधिकार को भूल जाता है तब आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद में उसका स्वतः प्रवेश हो जाता है। फिर अति सुगमतापूर्वक 'यह' और 'मैं' का विभाजन हो

जाता है। प्राणी अधिकार-लोलुपता के कारण ही 'यह' में आबद्ध हो गया है। यदि प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्राणी उन सभी इच्छाओं का अन्त कर दे, जिनमें समाज का हित और प्रसन्नता निहित न हो तो बहुत सुगमतापूर्वक उसका मन निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। फिर प्राणी अपनी स्वाभाविक लालसा को पूरा कर कृतकृत्य हो जाता है। उसका जीवन निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि गुणों से परिपूर्ण हो जाता है अथवा यों कहो कि वह अपना निर्माण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण से स्वतः ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। अतः अपने निरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष बनाना परम आवश्यक है।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है और उसमें किसी प्रकार का दोष होता है तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते, तथापि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

मिथ्या, कटु और आवश्यकता से अधिक या कम बोलना किसी को प्रिय नहीं होता। हम यही आशा करते हैं कि हम से जो कोई बोले प्रिय, सत्य, हितकर और आवश्यकतानुसार बोले। बोलने के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान हमें किसी ने सिखाया नहीं। यह हममें स्वयं विद्यमान है। बोलने की शक्ति का सद्व्यय करने पर वाणी में सत्यता आ जाती है। उसके शब्दों का प्रभाव स्वतः होने लगता है, यहाँ तक कि उसके बोले हुए वाक्यों पर प्रकृति भी कार्य करने लगती है। ऐसा यथार्थ बोलने वालों का अनुभव है।

उसी प्रकार हमें प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार पर निज-ज्ञान के प्रकाश में यथेष्ट दृष्टिपूर्वक निरीक्षण रखना चाहिये, जिससे इन्द्रियों की शक्ति का दुर्व्यय न हो। पर, यह तभी सम्भव होगा जब मन में केवल वे ही संकल्प उत्पन्न हों जो शुद्ध हों और जिनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से हो अर्थात अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग करने पर ही इन्द्रियों का व्यवहार शुद्ध हो सकेगा। उसका परिणाम यह होगा कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वतः हो जायगी अर्थात मन में निर्विकल्पता आ जायगी। मन के निर्विकल्प होते ही मन के द्वारा जो शक्ति इन्द्रियों की ओर प्रवाहित होती

थी वह बुद्धि की ओर आरोहित होकर बुद्धि में विलीन हो जायगी। फिर बुद्धि सम होकर उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जायगी, जिससे वह मन, इन्द्रिय आदि को शुद्ध प्रकाश देकर व्यवहार में सुन्दरता प्रदान कर सकेगी।

हमारी चेष्टाओं में दोष तभी आते हैं जब बुद्धि के द्वारा मिले हुए वास्तविक प्रकाश का मन और इन्द्रियाँ अनादर करने लगती हैं एवं हम इन्द्रियों के उस कृत्य का समर्थन करते रहते हैं जो बुद्धि के प्रकाश से रहित है। बस, यही भूल अपना निरीक्षण न करने से होती है। हमारी बुद्धि दूसरों का निरीक्षण करने में तो बड़ी ही कुशलता का परिचय देती है, परन्तु उस कुशलता का उपयोग हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के निरीक्षण में करना चाहिये।

हम जिनके साथ रहते हैं उनकी बात पर विश्वास न करके अपना विश्वास खो बैठते हैं और दुःखी होकर कहने लगते हैं कि हमारी बात का कोई विश्वास ही नहीं करता। इस प्रकार परस्पर में अविश्वास होने से बड़ी भयंकर उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जीवन कलह का केन्द्र बन जाता है। अपना असत्य सत्य और दूसरों का सत्य असत्य प्रतीत होने लगता है। इससे जीवन में खिन्नता, नीरसता, एवं उत्साहहीनता आदि अनेक विकार
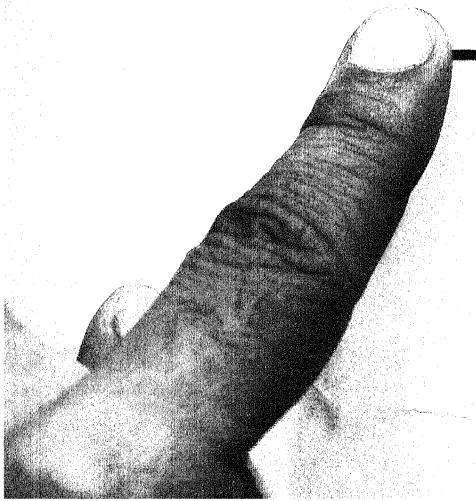
भर जाते हैं। इस भयंकर परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिए हमें अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा सत्यता, मधुरता, प्रियता, एवं हितचिन्तकता का परिचय देना चाहिये और अपने साथियों के असत् तथा कटुतापूर्ण व्यवहार की आलोचना न करते हुए उनके इच्छानुसार जैसा वे कहें सुन लेना चाहिये, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि हमारी बात सहर्ष सुन ली जाती है। कुछ ही दिन में हमारे साथी अपने स्वभाव को स्वतः बदलने लगेंगे। यद्यपि हमें किसी के असत्य का अनुसरण नहीं करना है तथापि अपने सत्य के समान ही उसका आदर अवश्य करना है, क्योंकि किसी के असत्य को असत्य कहने का हमें अधिकार ही नहीं है। यदि कोई अपने असत्य को सत्य प्रकाशित करता है तो हमें हर्ष पूर्वक सुन लेना चाहिये। उसका अनादरपूर्वक कटुतापूर्ण उत्तर नहीं देना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि उसका असत्य उसे स्वयं दीखने लगेगा। फिर वह बेचारा स्वतः ही विवश होकर असत्य का त्याग करने लगेगा, क्योंकि अनादर के भय से ही प्राणी असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। हमारे आलोचक जब स्वभाव से हमारे समक्ष हमारे सत्य का अनादर और अपने असत्य का प्रतिपादन करने लगें उस समय यदि हम प्रतिवाद करने लगें तो इससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न

हो जाता है। अतः यदि हमें ठीक-ठीक सत्य का दर्शन हो गया है तो हमें चाहिये कि हम साथी के असत्य को असत्य न कह कर उसे सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करें जिससे वह स्वयं अपने असत्य को देख कर अपने को सत्यार्थी बनाने के लिए तत्पर हो जाय।

अपना निरीक्षण करने में प्राणी जिन स्वाभाविक रुचियों को बनाये रखता है उन्हीं के अनुसार उसे सत्य का दर्शन मिलता है। यद्यपि सत्य सभी रुचि-रंजित स्वभावों से अतीत है, क्योंकि प्रत्येक रुचि किसी न किसी परिच्छिन्नता के अभिमान पर ही जीवित है तथापि असत्य को प्रकाशित करने में भी सत्य ही समर्थ है।

आत्म-निरीक्षण करने से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि न्याय और प्रेम से ही परस्पर में एकता, प्रियता एवं मधुरता सुरक्षित रह सकती है। पर न्याय अपने प्रति और प्रेम अन्य के प्रति करना होगा। अपने पर न्याय करने से निर्दोषता आ जाती है और दूसरों के प्रति प्रेम करने से स्नेह की एकता एवं स्वरूप की अभिन्नता का अनुभव होने लगता है। न्याय का वास्तविक अर्थ है—बल का सदुपयोग तथा प्रेम का वास्तविक अर्थ है—अपने अधिकार को भूल कर दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए बुराई का उत्तर भलाई से देने में प्रसन्नता का अनु-

भव करना कारण कि प्रेम किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देता। वास्तविक एकता का अनुभव हो जाने पर प्राणी बड़ी ही सुगमता से बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है। जिस प्रकार दाँतों से यदि जीभ कट जाती है तो वह कभी उन्हें तोड़ने की बात नहीं सोचती। इतना ही नहीं, यदि दाँतों में कुछ फँस गया हो तो उसे निकालने का भी प्रयत्न करती है।

आत्म–निरीक्षण से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि सुख का वितरण करने के लिए और दुःख को अपनाने के लिए सभी के साथ एकता स्थापित करनी चाहिये; क्योंकि हम अपना दुःख मिटाने के लिये अपने से अधिक सुखियों की ओर आशा लगाये रहते हैं। प्राप्त सुख द्वारा अपने से अधिक दुःखियों की आशा पूरी करने में हिचकते रहना ही प्रमाद है। इस प्रमाद को मिटाने के लिए विवेक का आदर करना ही महामंत्र है। अपने अनुभूत ज्ञान का नाम ही विवेक है, सीखे हुए ज्ञान का नाम विवेक नहीं, वह तो केवल मस्तिष्क का संग्रह है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी अनुभव होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति और निवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है, पर राग-युक्त प्रवृत्ति प्रमादवश वासनाओं के जाल में आबद्ध करती है, जिससे प्राणी

अनेक ऊँच-नीच योनियों को प्राप्त होकर अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोगता रहता है अर्थात् आनन्द से विमुख हो जाता है, यद्यपि आनन्द से जातीय तथा स्वरूप की एकता है और सुख-दुःख से केवल मानी हुई एकता है। कामना की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर से एकता स्वीकार करना है, जो वास्तव में भूल है, क्योंकि जिसे अपने से भिन्न जानते हैं उसे अपना स्वरूप मान लेना अर्थात उससे आत्मीयता स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिस विवेक से प्रमाद को प्रमाद जानते हैं उसी विवेक से प्रमाद का अन्त हो सकता है अर्थात विवेक द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से असंग होते ही निर्वासना आ जाती है और वासनाओं का अन्त होने पर राग त्याग में बदल जाता है। तब प्रेमास्पद के नाते स्वार्थ-रहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति केवल प्रमास्पद के प्रसन्नतार्थ ही होने लगती है। प्रेमी को सभी में अपने प्रियतम का दर्शन होने लगता है अर्थात यह अनुभव होता है कि जो कुछ है उसमें अपना प्रियतम ही है और कुछ नहीं। वासना-रहित निवृत्ति आ जाने पर तो ऐसा बोध स्वतः होता है कि प्रेमास्पद से भिन्न और कभी कुछ हुआ ही नहीं। उस

अवस्था में शरीर द्वारा होने वाली प्रवृत्तियाँ स्वतः स्वार्थ-रहित सर्व-हितकारी सद्भावना से प्रेरित होने लगती हैं। स्वार्थ-रहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में निवृत्ति के ही समान है, क्योंकि वह समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखती है और उसके बदले में कुछ भी लेने की रुचि शेष नहीं रहने देती। स्वार्थ-रहित होते ही किसी प्रकार का उपभोग शेष नहीं रहता और उपभोग का अन्त होते ही प्राणी अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव कर कृत-कृत्य हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वासना-रहित निवृत्ति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति दोनों ही आदरणीय तथा अनुसरणीय हैं।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति ही मानव-जीवन की दो मुख्य साधनायें हैं। जीवन इन दोनों भागों में ही विभाजित होना चाहिये। ये दोनों साधनायें जिस एक के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं वही एक सभी का सब कुछ है और उससे सभी की अभिन्नता हो सकती है।

वासनायुक्त निवृत्ति और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति तो सर्वथा निन्दनीय है, क्योंकि वासनायुक्त निवृत्ति प्राणी को मिथ्या-चारी और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति उसे विषयासक्त बना देती है। वासना-रहित निवृत्ति भेद से अभेद की ओर और स्वार्थ

रहित प्रवृत्ति भिन्नता से अभिन्नता की ओर प्रेरित करती है। अभिन्नता स्वार्थ को खाकर साधक को साध्य से एक कर देती है। इसी प्रकार वासना रहित निवृत्ति देहाभिमान को खाकर साधक को अपने लक्ष्य में प्रतिष्ठित कर अभेद कर देती है। फिर उसके जीवन में किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता अर्थात 'यह' (संसार) 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' तीनों की वास्तविक एकता हो जाती है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्राप्त का अनादर और अप्राप्त का चिन्तन करते रहने से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग होता है, सदुपयोग नहीं होता। आदरपूर्वक वर्तमान का सदुपयोग न करने से आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होने लगता है, जिससे सार्थक चिन्तन उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सार्थक चिन्तन के बिना उसकी ओर प्रगति ही नहीं हो सकती जो एकमात्र स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से ही प्राप्त होता है। प्राणी उस समय तक किसी न किसी चिन्तन में लगा ही रहता है जब तक उस अनन्त जीवन को प्राप्त नहीं कर लेता, जो सभी अवस्थाओं, वस्तुओं एवं परिस्थितियों से अतीत है। उसका अनुभव करने के लिए तो हमें सब प्रकार के चिन्तन से रहित होना ही होगा। जिस प्रकार स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा-

भाव अनिवार्य है, उसी प्रकार व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए सार्थक-चिन्तन भी परमावश्यक है। जब तक अप्राप्त परिस्थिति से निराश होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न किया जाय तब तक व्यर्थ चिन्तन का होना स्वाभाविक ही है। प्राप्त परिस्थिति ही सर्वोत्कृष्ट साधन-सामग्री है—ऐसा मानने या जानने से ही प्राणी अप्राप्त परिस्थिति से निराश हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन में साध्य तथा जीवन-बुद्धि भूल है। साधक साधन द्वारा ही साध्य से अभिन्न होता है। अतः प्रत्येक साधक को सभी परिस्थितियों से अनन्त नित्य जीवन को प्राप्त करने के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब परिस्थिति को साधन और परिस्थितियों से अतीत नित्य, दिव्य, चिन्मय जीवन को साध्य (लक्ष्य) जाने या माने।

अपने निरीक्षण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है। किसी की अपेक्षा कोई भले ही ऊंची या नीची प्रतीत होती हो पर वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं, कारण कि अपने को प्राप्त परिस्थिति से अधिक सुखमय तथा अधिक दुःखमय परिस्थिति का भास प्रत्येक परिस्थिति में होता

है। प्राणी अपने से दुखियों को देखकर अपने को सुखी और सुखियों को देखकर दुःखी मान लेता है। अथवा यों कहो कि अप्राप्त काल में ही परिस्थिति की सत्यता और सुन्दरता प्राणी को आकर्षित करती है। प्राप्त होने पर उसमें वैसा आकर्षण नहीं रहता। फिर तो उससे भी आगे बढ़ने की स्वाभाविक रुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमें उसी को प्राप्त करना है जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। उसको प्राप्त करने के लिए किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने को उससे असंग करना है और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित करना है। परिस्थिति के चिन्तन से रहित होने पर स्वतः ही आस्तिकों (भक्तों) में भगवत्-चिन्तन और जिज्ञासुओं में तत्त्व-चिन्तन होता है, जो व्यर्थ चिन्तन को खाकर उन्हें क्रमशः शरणागति और अचिन्त्यता प्रदान करता है। फिर प्राणी बड़ी सुगमता से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

अपने निरीक्षण से यह भी विदित होता है कि साम्य के बिना शान्ति नहीं, पर वास्तविक साम्य किसी परिस्थिति विशेष में नहीं प्रत्युत सभी परिस्थितियों से अतीत में अथवा अपने-अपने स्थान पर ठीक बने रहने में ही है।

सभी परिस्थितियों से अतीत जो साम्य है, वह सब प्रकार से नित्य तथा अनन्त है और अपने-अपने स्थान पर ठीक बने रहने में जो साम्य है वह एक दूसरे के पारस्परिक अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए प्रीति की एकता रखता है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक अधिकारों का समूह बन जाय औरसमाज ही व्यक्तिगत जीवन हो जाय। पर ऐसा तभी हो सकेगा जब मानव कर्त्तव्य को ही अपना अधिकार माने तथा अधिकार-लालसा से रहित होकर अचिन्त हो जाय।

यह भी सभी का अनुभव है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता, जड़ता, एवं पराधीनता आदि निर्बलताएँ आ जाती हैं और निवृत्ति आ जाने पर स्वाभाविक ही स्वतः शक्ति का संचय हो जाता है अर्थात प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई निर्बलताएँ मिट जाती हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रवृत्ति शक्ति का व्यय और प्रत्येक निवृत्ति शक्ति का संचय कराने में समर्थ है। यदि प्राणी प्रवृत्ति के दोषों से दुःखी होने पर उसकी वासना से रहित हो स्वतः प्राप्त निवृत्ति को अपना कर अचिन्त हो जाय तो भोग योग में, राग वैराग्य में, पराधीनता स्वाधीनता में तथा जड़ता चिन्मयता में परिणत हो जाती है। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उससे अभिन्नता और

जिससे केवल मानी हुई एकता है उससे भिन्नता हो जाती है अर्थात किसी प्रकार की विषमता एवं खिन्नता शेष नहीं रहती। यह भलीभाँति अनुभव हो जाता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति केवल छिपे हुए राग की वास्तविकता का परिचय कराती है और निवृत्ति द्वारा प्रवृत्तियों का अन्त कर, प्रवृत्ति और निवृत्ति से अतीत अनन्त नित्य जीवन का पाठ पढ़ाती है। बस, यही आध्यात्मिक तथा आस्तिक जीवन है। अतएव अपने निरीक्षण द्वारा प्राणी अत्यन्त सुगमतापूर्वक आध्यात्मिक उत्थान तथा आस्तिक जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो सकता है।

दूसरा नियम

की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना।

जब अपने निरीक्षण से हम अपने बनाये हुए दोषों को देख लेते हैं तब उनको मिटाने के लिए प्रायश्चित्त तथा व्रत एवं तप और प्रार्थना करना अनिवार्य हो जाता है, कारण कि प्रायश्चित्त के बिना भूल को न दोहराने का संकल्प दृढ़ नहीं रह सकता तथा व्रत के बिना भूल का पुनः उत्पन्न न होना और निर्दोषता की प्राप्ति सम्भव नहीं है एवं प्रार्थना के बिना व्रत को पूरा करने की शक्ति और निरभिमानता सम्भव नहीं है।

प्रार्थना रहित तप में सीमित अहंभाव की दृढ़ता होती है जो साधक को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर देती है। गुणों का अभिमान वास्तव में दोषों का मूल है। अतः व्रत के पालन करने में जो कठिनाइयाँ आयें उनको तप जान कर सहर्ष सहन कर लिया जाय तथा आवश्यक शक्ति और निरभिमानता के लिए सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना की जाय तो दोषों की निवृत्ति और निर्दोषता

की प्राप्ति स्वतः हो जायगी, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। निरभिमानता का वास्तविक अर्थ यह है कि गुणों का संग न हो और दोषों की उत्पत्ति न हो।

भूल को भूल जान लेने पर जो वेदना उत्पन्न होती है, वही साधक के मन में प्रायश्चित्त करने की भावना जाग्रत करती है। जो भूल हो चुकी है उसको न दोहराया जाय, यही वास्तव में सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित्त है, किन्तु उस प्रायश्चित्त को सजीव और सफल बनाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि भूल द्वारा जिस सुख का उपभोग किया है उसे दुःख में बदल कर सुख की आसक्ति को मिटा दें और किसी न किसी ऐसे तप को अपना लिया जाय जिससे पुनः भूल न करने की दृढ़ता आ जाय एवं असावधानी मिट जाय, हृदय की दुर्बलता का अन्त हो जाय और पुनः उस प्रकार के सुख की आशा ही न हो जिसके राग से प्रेरित होकर भूल की गई थी। क्योंकि सुख की आशा से प्रेरित होकर ही प्राणी भूल द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख का उपभोग करता है। अविवेक-जन्य चित्त की अशुद्धि से ही सुख-भोग में प्रवृत्ति होती है, जैसे कि लोभ के दोष से धन के उपभोग की लालसा तथा हानि का भय; मोह के दोष से संयोग की दासता तथा वियोग का भय; अभिमान के दोष से मान की लालसा तथा अपमान का
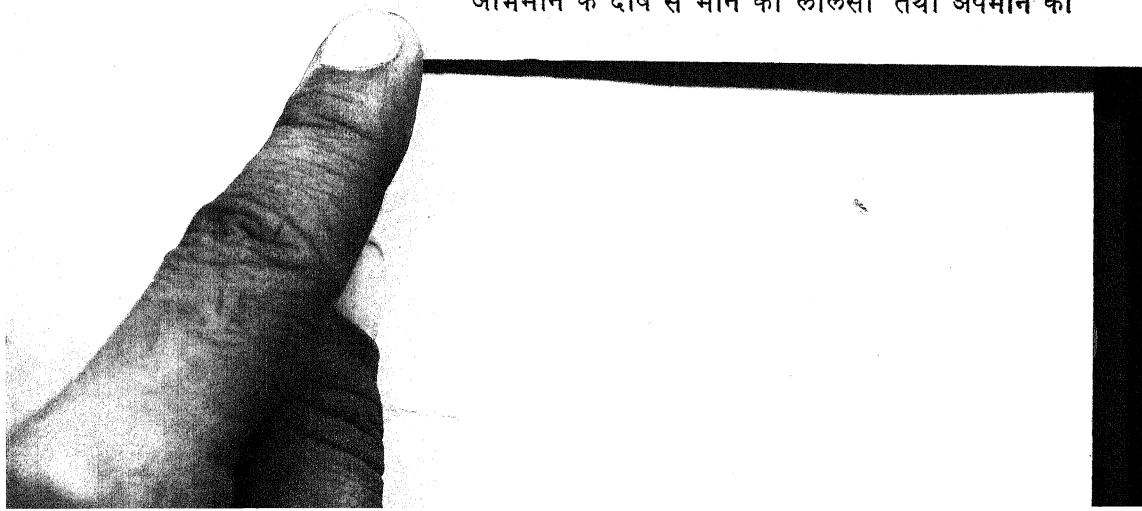
भय; और काम के दोष से कामना पूर्ति की दासता तथा अभाव का भय उत्पन्न होता है।

प्रायश्चित्त के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर भोगासक्ति अर्थात सुख-लोलुपता मिट जाती है। सुख-लोलुपता के मिट जाने पर दु:ख जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। क्योंकि कोई ऐसा दु:ख है ही नहीं जिसका जन्म किसी न किसी प्रकार के सुख-भोग से न हो।

सुख-दु:ख का अभाव होते ही हृदय में आनन्द की गङ्गा स्वत: लहराने लगती है। प्रायश्चित्त करने पर व्रती जीवन का आरम्भ होता है। व्रती जीवन से ही निर्दोष होने की लालसा सबल तथा स्थायी होती है, जो भूल को उत्पन्न ही नहीं होने देती और असंयम एवं असावधानी को खाकर सतत् जागर्त्ति प्रदान करती है, जिससे प्राणी साधन-युक्त जीवन द्वारा लक्ष्य की ओर प्रगतिशील होता है तथा बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर लेता है। यही वास्तव में तप है। तप से आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होता है और सभी निर्बलताएँ मिटने लगती हैं।

व्रतयुक्त जीवन को सुरक्षित रखने के लिए आस्तिक सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना का और भौतिकवादी तपश्चर्या का आश्रय लेता है।

प्रार्थना से निरभिमानता और निर्भयता आती है। तप से निर्बलता मिट जाती है। निरभिमानता आने पर अहं-भाव शेष नहीं रहता और निर्बलता मिटने पर आवश्यक बल प्राप्त होता है। ज्यों-ज्यों प्राणी प्राप्त बल का सदुपयोग करता जाता है त्यों-त्यों आवश्यक बल स्वतः मिलता जाता है। पर, जब बल का उपयोग उपभोग में होने लगता है तब अनेक प्रकार की निर्बलताएँ स्वतः आने लगती हैं। बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में है। निर्बलों की सेवा करते-करते हृदय शुद्ध होने लगता है, हृदय शुद्ध होते ही सत्य की खोज और परम व्याकुलता स्वतः जाग्रत हो जाती है, जो अहंभाव को खाकर साधक को वह नित्य जीवन प्रदान करती है जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। इस जीवन में तपी और प्रार्थी दोनों ही समान हो जाते हैं। तपी बल को अपने तप का फल मानता है और प्रार्थी उसे प्रभु की देन जानता है। यद्यपि कोई भी बल किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है, जो 'है' उसी से सब कुछ मिलता है। प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचारों द्वारा 'है' की खोज करता है। 'है' किसी की उपज नहीं है, प्रत्युत खोज है, पर इस रहस्य को कोई विरले तत्त्वदर्शी ही जानते हैं।

प्रार्थना, व्यथित हृदय की पुकार तथा निर्बल का बल एवं आस्तिक का जीवन है। लक्ष्य की आवश्यकता का अनुभव करना ही वास्तव में प्रार्थना है। इस दृष्टि से प्राणी-मात्र प्रार्थना करता है। अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक केवल एक से और नास्तिक अनेक से प्रार्थना करता है। आस्तिक की प्रार्थना सेवा करने के लिए और नास्तिक की प्रार्थना उपभोग के लिए होती है। आस्तिक, प्रार्थना द्वारा मिले हुए बल को अपना नहीं मानता प्रत्युत निर्बलों का अधिकार मानता है और नास्तिक प्राप्त बल को अपनी निजी सम्पत्ति मान कर दीनता तथा अभिमान आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है जो दु:ख का मूल है। 'है' को स्वीकार न करना और जो नहीं है उसी पर विश्वास करना नास्तिकता है। 'नहीं' को 'नहीं' जान कर 'है' के लिए परम व्याकुल होना आस्तिकता है। 'है' से अभिन्न होने पर 'नहीं' जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। अभावों की वेदना 'नहीं' से विमुख करके 'है' की ओर गतिशील करती है। जिसमें प्रवृत्ति तो हो किन्तु प्राप्ति न हो उसी को 'नहीं' समझना चाहिये और स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर जिसकी स्वत:सिद्ध प्राप्ति हो उसी को 'है' जानना चाहिये।

प्राप्त शक्ति का सद्‌व्यय करने पर ही प्रार्थना करने का अधिकार मिलता है। शक्ति का संग्रह तथा अपव्यय करने पर की हुई प्रार्थना सफल नहीं होती, क्योंकि वह तो अनधिकार चेष्टा है अथवा यों कहो कि प्रार्थना वास्तव में सचाई की भूख है और कुछ नहीं। अतः ज्यों-ज्यों सत्य की खोज तथा उसकी अभिलाषा सबल होती जाती है त्यों-त्यों प्रार्थना प्रार्थी का जीवन बनती जाती है और जब तक प्रार्थना प्रार्थी तथा जिससे प्रार्थना की जाती है वे तीनों एक नहीं हो जाते तब तक प्रार्थना होती ही रहती है।

इस दृष्टि से प्रार्थना मानव-जीवन का आवश्यक अङ्ग है। प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रार्थना से ही नित्य नव उत्साह की वृद्धि होती है और अनुकूल परिस्थितियों में उससे प्राप्त शक्ति का सद्‌व्यय करने की क्षमता प्राप्त होती है। अतः प्रत्येक अवस्था में प्रार्थना से प्राणी का हित ही होता है।

प्रार्थना, असमर्थ का अन्तिम प्रयास, सफलता का अचूक अस्त्र और आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने वाला महामंत्र है अथवा यों कहो कि यह दुःखियों की वास्तविक साधना है। प्रार्थना प्रत्येक परिस्थिति में सुगमतापूर्वक हो सकती है, क्योंकि उसके लिए किसी अन्य साधन-

सामग्री की अपेक्षा नहीं है। इस दृष्टि से प्रार्थना प्राणी-मात्र की सहज साधना है।

प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाय कम है, क्योंकि यह निराशा को आशा में, निर्बलता को बल में और असफलता को सफलता में परिवर्तित कर प्राणी को उसका अभीष्ट प्राप्त कराने में समर्थ है।

—

तीसरा नियम

विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

मानव-मात्र में विश्वास और विचार की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, कारण कि ऐसा कोई मानव नहीं है जिसका किसी न किसी पर विश्वास न हो और जो कुछ न कुछ जानता न हो। पर दोनों का यथेष्ट उपयोग वे ही कर पाते हैं जिनका जीवन साधन-युक्त है।

विश्वास एकता प्रदान करता है और विचार निर्दोषता। अतः अपने को निर्दोष बनाने के लिए विचार की और जिनसे भिन्नता प्रतीत होती है उनसे एकता स्थापित करने के लिए विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता है। विचार अर्थात निज-ज्ञान का प्रकाश अपने दोषों का दर्शन कराता है तथा उनको मिटाने का उपाय प्रदर्शित करता है, कारण कि विचार से न्याय की स्थापना होती है। न्याय वही सार्थक होता है जो अपने पर किया जाय, क्योंकि अपना दोष-दर्शन जितनी स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है उतना अन्य का नहीं। न्याय कोई अनिष्टकर

विधान नहीं है, प्रत्युत अपने सुधार का वास्तविक साधन है।

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी व्यक्ति अपनी दृष्टि में अपराधी होकर नहीं रहना चाहता, इस कारण अपने द्वारा अपने प्रति न्याय अनिवार्य है। यह सभी को विदित है कि प्रत्येक दोषी को भूतकाल के दोषों का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से जो भूल कर चुका है, उसी के आधार पर वह अपने को दोषी मानता है। वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने पर ही मानव अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य अनुभव करता है। परन्तु जब तक वह सर्वांश में निर्दोष नहीं हो जाता तब तक न तो वर्तमान निर्दोषता ही सुरक्षित रहती है और न अपने में से अपराधी भाव का ही अभाव होता है। इस कारण जाने हुए और किये हुए दोषों का सर्वांश में त्याग अनिवार्य है। प्रत्येक दोष दोष-जनित सुख-लोलुपता के आधार पर जीवित रहता है अथवा यों कहो कि उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। दोष-जनित वेदना में ही सुख-लोलुपता का नाश निहित है। दोष को दोष जान लेने मात्र से चेतना तो आती है,परन्तु दोष-जनित सुख-लोलुपता दोषी में निर्दोषता को सुरक्षित नहीं रहने देती और वह अपने अन्दर आंशिक निर्दोषता को देख दोष-जनित

व्यथा को दबा देता है। इतना ही नहीं, वह पर-दोष-दर्शन कर निर्दोष होने की लालसा को शिथिल भी बना लेता है। इसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि अपने प्रति न्याय करने की रुचि शिथिल हो जाती है और व्यक्ति अपराधी होने पर भी दूसरों की दृष्टि में निरपराधी बने रहने का दम्भ करने लगता है।

अपने प्रति अपने द्वारा न्याय किये बिना उस दम्भ का नाश नहीं होता। हम अपराधी बने रहें, पर दूसरे हमें निरपराधी मान लें, यह धारणा अपने प्रति न्याय नहीं करने देती। दूसरे हमें भले ही अपराधी मानते रहें, किन्तु हम अपनी दृष्टि में निर्दोष होकर ही चैन से रहेंगे, यह विकल्प रहित निर्णय ही अपने प्रति न्याय करने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

की हुई भूल को भूल स्वीकार करते ही अपने आप भूल-जनित वेदना जाग्रत होती है, जिसके होते ही मानव पर-दोष-दर्शन से रहित हो जाता है और उत्पन्न हुई वेदना सबल तथा तीव्र हो जाती है, जो भूल-जनित सुख-लोलुपता के नाश में हेतु है। दोष-जनित सुख-लोलुपता का नाश होते ही दोष उत्पन्न ही नहीं होते और फिर स्वतः नित्य-प्राप्त निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। यही न्याय का फल है।

निज-विवेक के प्रकाश में की हुई भूल को स्पष्ट रूप से जानना, भूल-जनित वेदना से पीड़ित होना और भूल-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश करना एवं नित्य-प्राप्त, स्वतःसिद्ध निर्दोषता से अभिन्न होना ही वास्तविक न्याय है, जो प्रत्येक मानव अपने प्रति अपने ही द्वारा कर सकता है। वास्तविक न्याय किसी अन्य के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अनिवार्य है।

निर्दोषता से अभिन्न होने पर भी यदि कोई दोषी मानता रहे तो उससे लेशमात्र भी चिन्तित तथा भयभीत नहीं होना चाहिये, अपितु निश्चिन्तता तथा निर्भयता को अपनाकर शान्ति तथा प्रसन्नता को सतत सुरक्षित रखना नितान्त आवश्यक है। वास्तविक न्याय की स्थापना किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। न्याय वही कर सकता है जो अपराधी के अपराधी होने से पीड़ित है, अपराध के बदले में दुःख देने की वृत्ति रखकर न्याय सम्भव नहीं है, कारण कि किसी के अपराधी होने की जो पीड़ा है, वह तो करुणा उदित करती है। करुणा जिसके प्रति होती है उसका हित करुणित को अभीष्ट होता है। हित अपराध के नाश में है, अपराधी के नाश में नहीं। अपराधी निरपराध हो जाय, यह सद्भावना

स्वभाव से अपने ही में अपने प्रति होती है अथवा उन वीतराग तत्त्व-वित महापुरुषों में होती है जिनके जीवन में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति हो गयी है। इसी कारण विधान बनाने का वास्तविक अधिकार वीतराग तत्त्व-वेत्ताओं को है, अन्य को नहीं।

जिन भाई-बहनों का हृदय करुणा से भरपूर नहीं है, उनके द्वारा किया हुआ न्याय वास्तव में न्याय नहीं है। वे अपराधी को पीड़ा देकर, असमर्थ बनाकर, दूसरों के प्रति होनेवाले अपराधों की रोकथाम करते हैं; उस बेचारे अपराधी को निरपराध नहीं कर सकते। भला कहीं निरपराध हुए बिना दूसरों के प्रति बुराई करने की प्रवृत्ति नाश हो सकती है? कदापि नहीं। इस दृष्टि से कोई भी राष्ट्र न तो व्यक्ति को निर्दोष बना सकता है और न समाज में सर्वांश में निर्दोषता की स्थापना ही कर सकता है। यदि ऐसा सम्भव होता तो किसी भी देश में गुप्तचर, न्यायशाला, कारागार, फौज, पुलिस आदि की आवश्यकता ही न होती, न विध्वंसक वैज्ञानिक आविष्कार ही होते और न समाज की शक्ति और सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग विनाशकारी कार्यों में व्यय होता। क्या यह सभी को विदित नहीं है कि युद्ध के अनन्तर विजयी देश पराजित देश को असमर्थ बनाने का प्रयास करते हैं?

उसका परिणाम यह होता है कि कालान्तर में पराजित देश शक्ति सम्पादन कर पुनः युद्ध में तत्पर होता है। किसी को निर्बल बनाकर भयभीत करना और पुनः युद्ध को जन्म देना, क्या यही न्याय है ? क्या इस न्याय से ही शान्ति की स्थापना और संघर्ष का नाश हो सकता है—व्यक्ति और समाज में निर्दोषता की गङ्गा लहरा सकती है ? कदापि नहीं। पर यदि मानव समाज अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अपनाले तो निर्दोष जीवन से अत्यन्त सुगमतापूर्वक समाज में निर्दोषता की स्थापना हो सकती है, परस्पर संघर्ष का नाश हो सकता है और विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति की रचना में भिन्नता है। यहाँ तक कि पिता, पुत्र, सहोदर भाई-बहन की रुचि, स्वभाव, योग्यता, सामर्थ्य आदि में भी समानता नहीं है। अपराध की वृत्ति के मूल में व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन है। किसी के ह्रास, विनाश तथा दुःख से अपने सुख का सम्पादन करना ही मूल अपराध है। इस कारण निरपराधता की अभिव्यक्ति जीवन में तभी हो सकती है जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपता से रहित हो जाय। किसी अन्य के सम्बन्ध में ऐसी कोई नाप-तौल नहीं है

कि कितनी पीड़ा और क्षति से उसकी सुख-लोलुपता मिट सकती है। यही मूल कारण है कि पर के द्वारा न्याय नहीं हो पाता। यदि भूल से अधिक दण्ड दिया गया तो अपराधी में क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति होती है जो उसे कर्त्तव्य से च्युत कर घोर अपराधी बना देती है। यदि अपराध से कम दण्ड मिला तो अपराधी में प्रलोभन उत्पन्न होता है जिसके होते ही पुनः अपराध करने की वृत्ति उत्पन्न होती है। न्याय का अर्थ किसी को दण्डित करना नहीं है, अपितु अपराधी स्वयं अपने अपराध को जान निरपराधी होने के लिए तत्पर हो जाय, यही वास्तविक न्याय है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपराधी अपना अपराध स्वीकार करने के लिए राजी नहीं है और उसके द्वारा निर्बलों की बड़ी क्षति हो रही है तो ऐसी दशा में क्या बलपूर्वक उसे अपराध करने से नहीं रोकना है? तो इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मोह तथा प्रलोभन से विवश हो अपराधी को सहयोग न दिया जाय और उस पर क्रोध भी न किया जाय तो कोई भी अपराधी अकेला होकर बिना दूसरों के सहयोग तथा समर्थन के अपराध में प्रवृत्त नहीं हो सकता। बुराई का समर्थन और सहयोग

बुराई को पोषित करता है। निर्दोष जीवन से ही निर्दोषता विभु होती है। बलपूर्वक दोषों को दबाया जा सकता है, मिटाया नहीं जा सकता। बल के सदुपयोग से निर्बलों को सबल बना सकते हैं और बल के दुरुपयोग से सबल को निर्बल बनाकर प्रतिहिंसा की भावना को उत्पन्न किया जाता है। निर्बल सबल हो जाय, यह न्याय है; सबल को निर्बल करना न्याय नहीं है। सबल और निर्बल में एकता हो जाय, यह न्याय है; परस्पर संघर्ष को जन्म देना न्याय नहीं है, अपितु न्याय के वेष में घोर अन्याय ही है। इन सब कारणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि न्याय अपने प्रति, अपने द्वारा ही हो सकता है और उससे निर्दोषता से अभिन्नता हो सकती है।

यदि प्राणी न्यायपूर्वक अपना सुधार स्वयं कर ले तो फिर उसे राष्ट्रीय सामाजिक तथा प्राकृतिक न्याय और दंड-विधान की आवश्यकता ही नहीं होगी अर्थात वह दूसरों के शासन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा, कारण कि शासन की आवश्यकता का उदय ही तब होता है जब प्राणी अपने पर अपने विवेक का शासन नहीं करता। वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अपने पर अपना शासन अर्थात नेतृत्व और न्याय करना परम आवश्यक है, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है। हमें यही सीखना और

सिखाना है कि जिन-जिन से जितनी-जितनी निकटता हो उनके प्रति उतना ही कठोर न्याय बरतना चाहिये। इस दृष्टि से सबसे कठोर न्याय हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के प्रति करना चाहिये और ज्यों-ज्यों किसी न किसी प्रकार की दूरी होती जाय, त्यों-त्यों न्याय को प्रेम तथा क्षमा में बदलते जाना चाहिये। निकटवर्तियों का सुधार न्याय से और दूरवर्तियों का सुधार प्रेम तथा क्षमा से ही सम्भव है।

संयम, तप, उदासीनता, नियंत्रण, असहयोग, उपेक्षा आदि न्याय के ही अङ्ग हैं। इनके प्रयोग बिना निकट-वर्तियों का हित सम्भव नहीं है। न्याय में सर्वदा हित-कामना विद्यमान रहती है, द्वेष नहीं। लालच तथा भय-रहित होने पर ही प्राणी न्याय के वास्तविक स्वरूप को जान पाता है और उसका प्रयोग कर सकता है। न्याय में दुराग्रह, क्रोध आदि विकारों के लिए कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि क्रोध की उत्पत्ति तो अपनी कामना-पूर्ति के लिए होती है और न्याय में जिसके प्रति न्याय किया जाता है उसके हित की लालसा रहती है। न्याय में सत्याग्रह होता है, दुराग्रह नहीं। क्योंकि न्याय का जन्म विचार से होता है, प्रमाद से नहीं। सत्याग्रह असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करता है। इस दृष्टि से सत्याग्रह

आदरणीय और दुराग्रह निन्दनीय है। न्याय किसी का ऋणी नहीं रहने देता। न्याय अपने को क्षमा नहीं करता। न्याय बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। न्याय निर्बल को सबल और बलवान को उदार बनाने में समर्थ है। न्याय बलपूर्वक अन्याय मिटाने का पक्षपाती है अर्थात असंयमी को संयमी, संग्रही को उदार, स्वार्थी को परार्थी और हिंसक को अहिंसक होने की प्रेरणा देता है। न्यायपूर्वक बल का उपयोग करने से न तो किसी का विनाश होता है और न किसी के अधिकारों का अपहरण होता है। न्याय प्रेम तथा क्षमा का पोषक है, विरोधी नहीं। न्याय विभाजनपूर्वक एकता का समर्थक है अर्थात उसकी माँग है कि अपने-अपने स्थान पर सभी के अधिकार सुरक्षित रहें, सभी के विकास के साधन प्रस्तुत हों और कर्त्तव्य-परायणता को ही प्राणी अपना वास्तविक अधिकार मानें। कारण कि अधिकार तो कर्त्तव्य का ही दास है। किसी और की उदारता से किसी के अधिकार की रक्षा स्थायी रूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः अपने पर स्वयं न्याय करके कर्त्तव्य द्वारा दूसरे के अधिकार की रक्षा को ही अपना अधिकार मानना चाहिये। दूसरे के अधिकारों की रक्षा को अपना अधिकार मानना ही वास्तव में प्रेम है।

दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम ही किया जा सकता है। क्षमाशीलता महान बल है, कायरता नहीं। क्षमा-शीलता के बिना बैर-भाव का सर्वांश में नाश सम्भव नहीं है। निर्वैरता एकता की जननी है। भेद और भिन्नता का नाश होते ही परस्पर स्नेह की एकता हो जाती है और फिर समस्त संघर्ष सदा के लिए मिट जाते हैं। अब गंभीरता पूर्वक विचार यह करना है कि क्षमाशीलता का स्वरूप क्या है ? जिसने अपने प्रति बुराई की है, क्या उसने स्वयं अपने को बुरा नहीं बनाया है ? क्या कोई बुरा हुए बिना किसी के प्रति बुराई कर सकता है ? कदापि नहीं। अपने प्रति होनेवाली बुराई का दुःख तो सभी प्राणियों को स्वभाव से ही होता है, परन्तु जो क्षमाशील महापुरुष हैं उन्हें इस बात की व्यथा होती है कि इस बेचारे ने अपने को बुरा बना लिया है, इस कारण इसके द्वारा दूसरों के प्रति बुराई होती है। यदि यह बुरा न रहे तो इसके द्वारा किसी के प्रति बुराई न होगी। प्राकृतिक नियमानुसार किसी को भला बनाने का उपाय है, उसके प्रति भलाई करना, उसे बुरा न समझना, उसका बुरा न चाहना और उसके प्रति किसी प्रकार की भी बुराई न करना। यह तभी सम्भव होगा जब सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लिया जाय कि न्याय अपने प्रति और

क्षमा तथा प्रेम अन्य के प्रति करना अनिवार्य है। प्रत्येक कर्म कर्ता का ही रूपान्तर है अर्थात कर्म के रूप में कर्ता स्वयं ही प्रकट होता है और कर्म स्वयं फल बनता है। इस दृष्टि से कर्ता, कर्म और फल के स्वरूप में कर्ता ही है। जिसने हमारे प्रति बुराई की है उसने अपने बुरा होने का परिचय दिया है; कोई ऐसी बात नहीं की है जिसके बदले में हम उसके साथ बुराई करें। इतना ही नहीं, बुराई करने के लिए हमें अपने को स्वयं बुरा बनाना पड़ेगा। किसीकी की हुई बुराई से हमारी उतनी क्षति नहीं हो सकती जितनी स्वयं को बुरा बनाने से होती है। अतः व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हित की दृष्टि से क्षमाशीलता पूर्वक अपने प्रति होनेवाली बुराई के बदले में भलाई करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब जिसने बुराई की है, उसके बुरा होने की वेदना हो; उसकी की हुई बुराई के द्वारा हमें क्षोभ तथा क्रोध न हो। क्रोध रहित होते ही कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की और प्रेमास्पद की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से क्षमाशीलता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, उसमें सभी का हित निहित है। क्षमाशीलता की भूमि में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

यह प्राकृतिक नियम है कि क्षमाशीलता को अपनाये

बिना परस्पर विकास सम्भव नहीं है। बुराई के बदले में बुराई करने से उत्तरोत्तर बुराई की ही वृद्धि होती रहती है, कारण कि बुराई की प्रतिक्रिया बुराई ही होती है। अतः बुराई का अन्त बुराई न करने में है। इस दृष्टि से सर्वांश में भेद तथा भिन्नता का नाश करने के लिए क्षमा तथा प्रेम के समान और कोई सफल साधन नहीं है।

प्रेम भिन्नता को अभिन्नता में, क्रोध को क्षमा में, संकीर्णता को व्यापकता में और कृपणता को उदारता में परिवर्तित कर देता है। फिर बाह्य भाषा, वेष, वर्ण और कर्म आदि के भेद रहने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रहती है; क्योंकि प्रेम नित नव प्रीति का पोषक और रक्षक है। प्रेम की उत्पत्ति सरल विश्वास से अथवा यथार्थ ज्ञान से होती है। जिसे हम अपना मान लेते हैं उससे स्वतः ही प्रेम होने लगता है और जिसे हम सब प्रकार से जान लेते हैं उससे भी अपने आप प्रेम हो जाता है। अधूरा विश्वास तथा सन्देहयुक्त ज्ञान प्रेम का विनाशक है। प्रेम के बिना नित नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। रस रहित जीवन निरर्थक जीवन है। रस से ही जीवन की सार्थकता है। रसयुक्त जीवन किसी के लिए भी दुःखद नहीं होता, क्योंकि स्वयं खिन्न होने पर ही प्राणी दूसरों को दुःखी करता है। जिसका हृदय रस तथा प्रसन्नता से भरा है

उसी से समाज को प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। प्रसन्नता सदा उसी के हृदय में निवास करती है जिसका हृदय प्रेम और क्षमा से भरपूर है। क्षमा माँगने से निर्दोषता और क्षमा करने से निर्वैरता स्वतः आ जाती है। बैर-भाव रहित हृदय में ही प्रीति की गङ्गा लहराती है। अपने प्रति किये हुए अपराधों को क्षमा करना और अपने द्वारा होने-वाले अपराधों के लिए क्षमा माँगना महान बल है, निर्बलता नहीं। क्षमा माँगने का वास्तविक अर्थ है कि जिस अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की गयी है उस अपराध को फिर कभी किसी के प्रति न किया जाय और क्षमा करने का तात्पर्य यह है कि अपने प्रति होने वाली बुराई को सदा के लिए भुला दिया जाय एवं हृदय निर्वैरता तथा प्रीति से भर जाय।

निर्वैरता के बिना परस्पर का संघर्ष मिट नहीं सकता और निर्वैरता, क्षमाशीलता तथा प्रेम के बिना सम्भव नहीं है। केवल बल के प्रयोग द्वारा संघर्ष कुछ काल के लिए दब सा जाता है, मिटता नहीं। बल तो निर्बलों की धरोहर है और कुछ नहीं अर्थात बल के द्वारा निर्बलों के विकास और रक्षा के साधन उत्पन्न किये जा सकते हैं। बल का उपयोग किसी के विनाश में करना अपने को निर्बल बनाना है; क्योंकि इससे प्रतिहिंसा की भावना

जाग्रत होती है, जिससे कालान्तर में घोर संघर्ष उत्पन्न होता है।

अपने को निर्दोष बनाने और परस्पर प्रीति की एकता का संचार एवं संघर्ष का उन्मूलन करने के लिए अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम और क्षमा का प्रयोग करना परम आवश्यक है।
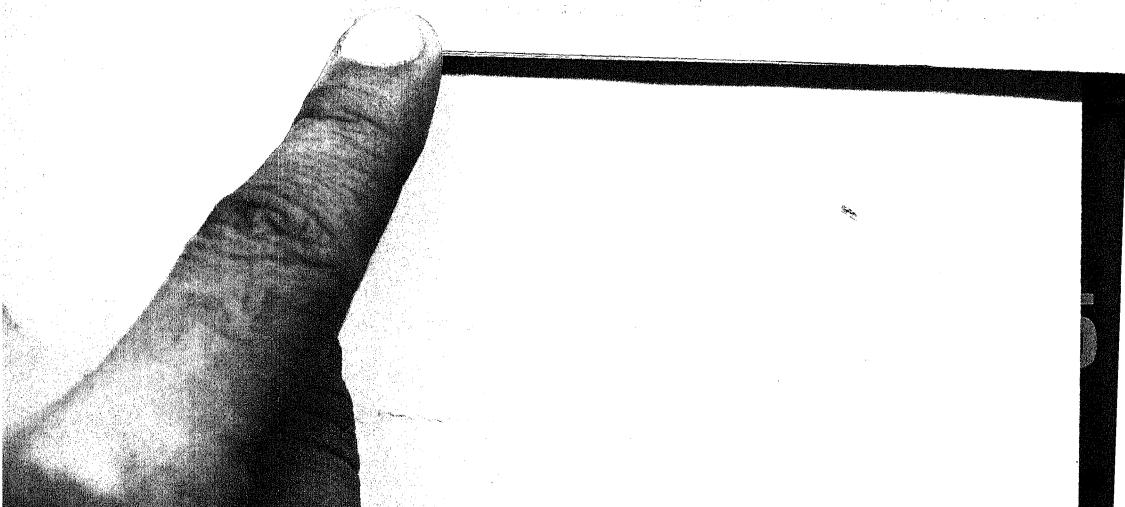
चौथा नियम

जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

अपना निर्माण करने अर्थात अपने को सुन्दर बनाने के लिए इन्द्रिय-लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ-चिन्तन से भगवत-चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन की ओर एवं असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त आवश्यक है—कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नहीं कर लेता, अपनी बनायी हुई पराधीनताओं का त्याग करके स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक चिन्तन और चेष्टाओं से रहित नहीं होता, अपने को सहृदय और उदार नहीं बना लेता, सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता तब तक वह अपने को सुन्दर नहीं बना सकता—यह निर्विवाद सिद्ध है।

इन्द्रिय-लोलुपता अविवेक सिद्ध है। यदि मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से अपने को असंग करले तो बहुत ही सुगमता-पूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त हो सकती है अर्थात भोग से

भोक्ता का मूल्य बढ़ जाता है, जिसके बढ़ते ही भोग की रुचि तत्त्व की जिज्ञासा में अथवा प्रेमास्पद की प्रियता में परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं से असंग होना अनिवार्य है। असंगता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु निज विवेक के आदर से ही साध्य है, कारण कि समस्त अभ्यास शरीर के तादात्म्य से ही किये जाते हैं। करने की रुचि ने ही देहाभिमान को पोषित किया है और देहाभिमान से ही सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग न करे। करने के फलस्वरूप कुछ पाने का जो प्रलोभन है उसी से प्राणी में देहाभिमान पोषित होता है, जिसके होते ही उत्पन्न ई वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता भासती है, जो इन्द्रिय-लोलुपता की भूमि है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि विवेकपूर्वक तीनों शरीरों से असंग होने पर ही वास्तविक जितेन्द्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

देहाभिमान रहते हुए बलपूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त करने का प्रयास विषयासक्ति के नाश में समर्थ नहीं होता, अपितु तप-पूर्वक अल्प काल के लिए विषयासक्ति दब जाती है, नष्ट नहीं होती। इस कारण विषयासक्ति का नाश एकमात्र विचार से ही सम्भव है। विचार रूपी सूर्य का

उदय होते ही विषयासक्ति रूपी अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से तप और त्याग दोनों ही के द्वारा जितेन्द्रियता सिद्ध होती है। तप से शक्ति का सम्पादन होता है और त्याग से निर्वासना आती है, जिससे सर्वांश में समस्त आसक्तियों का अन्त हो जाता है, जो वास्तविक जितेन्द्रियता है।

इन्द्रिय-लोलुपता परिवर्तनशील सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बड़ा अन्तर यह है कि सुख का भोगी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अधीन हो जाता है अर्थात उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही नहीं, उसमें शक्तिहीनता, हृदयहीनता और परिच्छिन्नता आदि अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता स्वाधीनता में, हृदयहीनता सहृदयता में, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नता में और निर्बलता सबलता में बदल जाती है, क्योंकि हित हमें 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित का अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'है' की ओर अग्रसर होता है अर्थात वह दृश्य से विमुख होकर सर्व के प्रकाशक में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि उसमें

लीन हो जाती है जो सबसे अतीत है। इस प्रकार बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है, फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन से अभिन्न हो जाती हैं---बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता का अन्त हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय-जय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होने लगता है।

पर जब तक स्वार्थ भाव निर्मूल नहीं हो जाता तब तक जितेन्द्रियता की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना हुए मानव सत्पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्वार्थ भाव का अन्त करना अनिवार्य है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सुखासक्ति का नाश अनिवार्य है, जो एक मात्र सेवा से ही साध्य है। सेवा की अभिव्यक्ति दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होनें में ही निहित है। सेवा के बिना सुखासक्ति निर्मूल नहीं होती, कारण कि सुख का सद्व्यय सेवा द्वारा ही संभव है। सेवा-भाव उदित होते ही प्राणी-मात्र से एकता हो जाती है, जिसके होते ही दुःखियों को देख सेवक का हृदय करुणा से परिपूर्ण होता है और फिर सेवक प्राप्त सुख आदरपूर्वक दुःखियों को भेंट कर देता है। ऐसा करते ही सुख की दासता शेष नहीं

रहती, यही विकास का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि से भिन्नता प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार शरीर और शरीर के अवयवों में एकता है उसी प्रकार समस्त विश्व के साथ एकता स्वतः सिद्ध है। एकता दुःखियों को देखने पर करुणा और सुखियों को देखने पर प्रसन्नता प्रदान करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्नता निष्कामता से अभिन्न करती है। भोग की रुचि का नाश होते ही योग और निष्कामता आते ही असंगता स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य और असंगता से स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सेवा भाव बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। इतना ही नहीं, सेवा सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है अथवा यों कहो कि सेवक का अस्तित्व सेवा से भिन्न और कुछ नहीं रहता। सेवा सेव्य का स्वभाव और सेवक का जीवन है। सेवा से सेव्य को रस मिलता है और जगत का हित होता है। सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र सेवा में ही निहित है। सेवा से जीवन जगत के लिए, अपने लिए एवं सेव्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। सेवा-भाव जाग्रत होते ही प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय स्वतः होने लगता है, जो जगत के

लिए उपयोगी है। सेवा से प्राप्त वस्तु आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना शेष नहीं रहती। सेवा से पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता में, एवं मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से सेवा अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है। सेवा सेव्य में आत्मीयता जाग्रत करती है। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता निहित है, जिससे सेव्य का रस मिलता है। अतएव सेवा सेव्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती है। मानव जिसमें अविचल आस्था स्वीकार करता है वही उसका सेव्य है और उसी के नाते सेवा की जाती है। सेवा भौतिकवादियों को विश्व-प्रेम, अध्यात्मवादियों को आत्मरति एवं भक्तों को प्रभु-प्रेम प्रदान करने में समर्थ है। प्रेम का आरम्भ किसी के प्रति हो, अन्त में वह विभु हो जाता है, कारण कि दर्शन अनेक होने पर भी वास्तविक जीवन एक है। उससे अभिन्नता मानव मात्र की सेवा द्वारा हो सकती है।

यह नियम है कि जिसके नाते सेवा की जाती है सेवक अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। प्रीति का आरम्भ आत्मीयतापूर्वक स्मरण-चिन्तन से ही होता है। स्मरण किया नहीं जाता, अपितु जिसमें आत्मीयता होती है, उसकी स्मृति स्वतः होती है। यह सभी को विदित

है कि मानव जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है उसका और जिसको अपना मानता है उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से चिन्तन किसी अभ्यास विशेष का नाम नहीं है अर्थात स्वाभाविक आवश्यकता एवं प्रियता की जागर्ति ही चिन्तन है। सेव्य की आत्मीयता तभी सजीव होती है जब सेवक चाह-रहित होता है और अपने में अपना करके कुछ नहीं जानता अर्थात अचाह तथा ममता रहित होने पर ही प्रेमिमों में प्रेमास्पद का, भक्तों में भगवान का और जिज्ञासुओं में तत्त्व का चिन्तन स्वतः होने लगता है। अतः भगवत्-चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन द्वारा प्रत्येक मानव अपना निर्माण कर सकता है।

प्रत्येक मानव स्वभाव से ही मृत्यु से भयभीत हो अमरत्व की और सन्देह से पीड़ित हो निस्सन्देहता की आवश्यकता अनुभव करता है। मृत्यु का भय तथा सन्देह की उत्पत्ति असत के संग से ही होती है। असत् को असत् जानते ही असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खाकर जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से अभिन्न कर देती है और फिर मृत्यु का भय तथा सन्देह की गंध भी नहीं रहती। अतः मानव मात्र को सत्य की खोज करना अनिवार्य

है। खोज उसी की होती है जिससे देश-काल की दूरी न हो तथा जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो अर्थात जो उत्पत्ति-विनाश रहित सर्वत्र सर्वदा है। उत्पन्न हुई वस्तु आदि की ममता तथा उनसे तादात्म्य स्वीकार करने पर ही प्राणी सत् से विमुख हो असत् के संग में आबद्ध हो जाता है, किन्तु बीज रूप से मानव मात्र में सत् की जिज्ञासा विद्यमान है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं ने जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। स्वाभाविक आवश्यकता की जागृति जिज्ञासा को सबल बनाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों उत्पन्न हुई कामनाएँ अपने आप निवृत्त होती जाती हैं। कामनाओं का नाश होते ही स्वतः विचार की अभिव्यक्ति होती है, जो अविचार का नाश कर जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से अभिन्न कर देता है। सत्य की खोज करने मात्र का ही मानव पर दायित्व है। उसकी प्राप्ति मंगलमय विधान से स्वतः होती है। असत् और सत् में एक बड़ा अन्तर यह है कि असत् की कामनाएँ प्राणी को प्रवृत्ति में आबद्ध कर अभाव ही प्रदान करती हैं अथवा यों कहो कि सभी कामनाएँ कभी भी किसी की पूरी नहीं होतीं। किन्तु सत् की जिज्ञासा सत् के जिज्ञासु को सत् से अभिन्न कर देती है। सत् की तीव्र जिज्ञासा मात्र से ही सत् की प्राप्ति स्वतः होती है।

इस कारण असत् की कामनाओं को त्याग सत् की खोज करना अनिवार्य है। असत् की कामना प्राणी के सीमित अहम्-भाव को जीवित रखती है जिससे बेचारा प्राणी परिच्छिन्नता में आबद्ध हो दीनता तथा अभिमान की अग्नि से दग्ध होता रहता है। सत् की जिज्ञासा सीमित अहम्-भाव को खाकर दिव्य, चिन्मय, नित्य जीवन से अभिन्न कर देती है। कामनाएँ अनेक और जिज्ञासा एक होती है। कामनाएँ उत्पत्ति-विनाश की ओर और जिज्ञास अविनाशी की ओर अग्रसर करती है अथवा यों कहो कि जिज्ञासा नित्य जीवन की होती है और कामनाएँ अनित्य जीवन की। यह सभी को विदित है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। इतना ही नहीं, कामना पूर्ति के अन्त में नवीन कामनाओं की उत्पत्ति स्वतः होती रहती है। इस कारण अन्त में कामना अपूर्ति ही शेष रहती है। कामना पूर्ति अपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति सीमित अहम्-भाव को पोषित करती है, नष्ट नहीं करती। परन्तु जब प्राणी कामना-अपूर्ति की असह्य वेदना से पीड़ित हो सत् की खोज करता है तब सत् की जिज्ञासा अहम-भाव को खाकर सत् से अभिन्न करती है। जिज्ञासा द्वन्द्वात्मक स्थिति नहीं रहने देती। इसलिए जिज्ञासा परिच्छिन्नता

को खाकर अमर जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि कामनाएँ अहम्-भाव की पोषक हैं और जिज्ञासा उसकी नाशक है।

जिस प्रकार निर्बलता बल की आवश्यकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है उसी प्रकार अनित्य जीवन नित्य जीवन की माँग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् अनित्य जीवन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसकी प्रतीति भले ही हो, किन्तु प्राप्ति नहीं होती। अनित्य जीवन का आकर्षण ही कामनाओं के रूप में उत्पन्न होता है। नित्य जीवन की माँग ही सत् की खोज के रूप में प्रकट होती है इसी कारण खोज मात्र से ही सत् की प्राप्ति होती है। अतः सत् की खोज द्वारा मानव मात्र अमरत्व से अभिन्न हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। सत् की खोज का वास्तविक अर्थ है अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग अर्थात विवेक विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग। सारांश यह है कि सन्देह की वेदना सत्य की खोज जाग्रत करती है। सरल विश्वास भगवत्-चिन्तन में प्रवृत्त करता है। हृदयशीलता सेवा को सजीव बनाती है और स्वाधीनता की माँग जितेन्द्रियता के लिए विवश करती है। इन चारों से मानव का निर्माण होता है। अतः इन्द्रियजय,
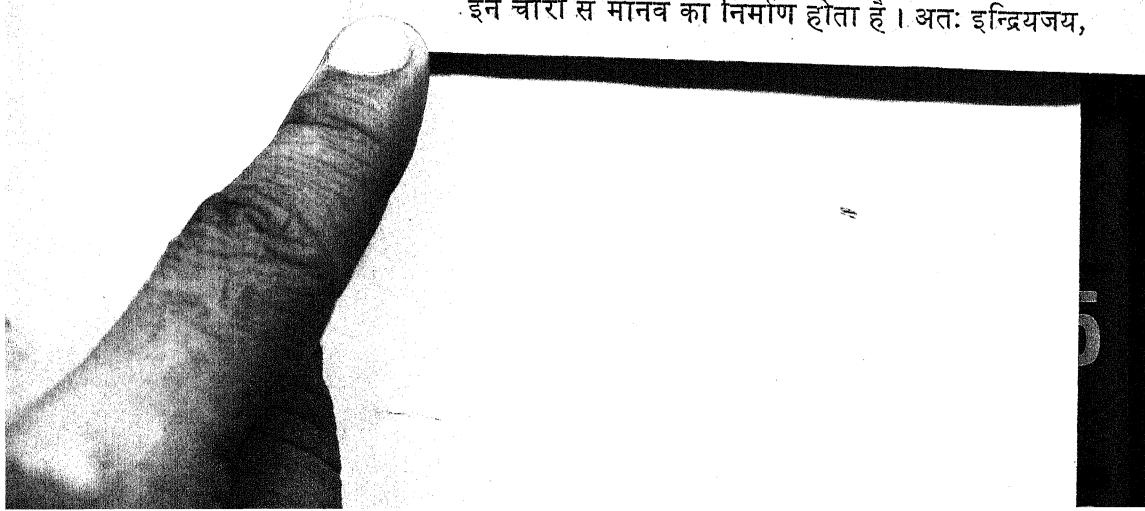
सेवा, सत्य की खोज तथा भगवत्-चिन्तन द्वारा अपना निर्माण करना अनिवार्य है।

प्रत्येक मानव अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन तथा सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण कर सकता है। समस्त संयम, तप आदि जितेन्द्रियता में, कर्त्तव्य की पराकाष्ठा सेवा में, समस्त उपासनाएँ प्रियता की जागति अर्थात भगवत्-चिन्तन में और निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित जाने हुए असत् के त्याग में ही सत्य की खोज या यों कहिये कि सत् की अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव अपने विकास का आरम्भ चाहे जिस साधन से करे, प्रत्येक साधन की पूर्णता में सभी साधनों का समावेश हो जाता है। साधन की भिन्नता होने पर भी साध्य की एकता ही सिद्ध होती है। आरम्भिक साधन को पराकाष्ठा में ही अन्य सभी साधन स्वतः आ जाते हैं। भिन्नता आरम्भ में है, अन्त में नहीं। व्यक्तिगत योग्यता में भेद होने से भिन्नता स्वाभाविक है और साध्य की एकता होने से सभी साधनों की परावधि साध्य की अगाध प्रियता में ही है। प्रत्येक साधक अपने साध्य की प्रियता होकर साध्य से अभिन्न होता है, यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

पाँचवा नियम

दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

कर्त्तव्य और अधिकार परस्पर भिन्नता को एकता में परिवर्तित करते हैं। इस दृष्टि से किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार होता है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों से सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं और यही विकास का मूल है। परन्तु जब मानव दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मान लेता है तब वह अधिकार लालसा में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अधिकार पूर्ति में राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो सर्वनाश का मूल है। राग प्राणी को पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि दोषों में आबद्ध करता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। रागरूपी भूमि में ही समस्त कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न हुई कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति में बेचारा प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध हो जाता है। सुख की दासता ही वह सुदृढ़ श्रृंखला है जो प्राणी को देहाभिमान में आबद्ध कर देती है, जो समस्त
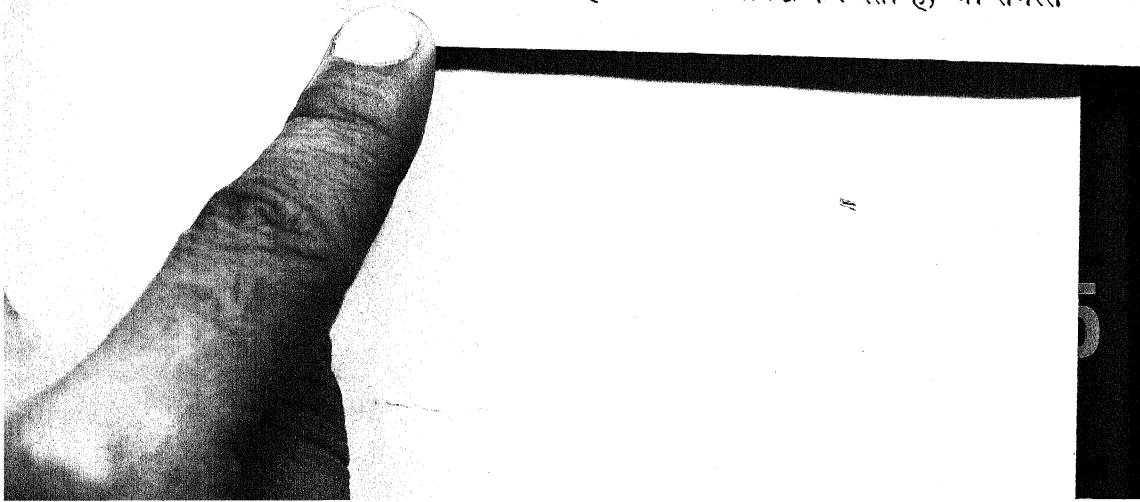
विकारों का मूल है और दुःख का भय दुःखी को असमर्थ बना देता है, कारण कि दुःख के भय से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार न माने और दूसरों के अधिकार को अपना कर्त्तव्य माने। अधिकार लालसा का नाश होते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि दूसरों के अधिकार की रक्षा करते ही विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। यह सभी को विदित है कि सामर्थ्य तथा निज-विवेक के अनुरूप कर्त्तव्यपालन में प्राणी असमर्थ नहीं है। इस कारण सभी भाई-बहन स्वाधीनता पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो विद्यमान राग से रहित हो सकते हैं। अपने अधिकार की पूर्ति में कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं है। इसी कारण अधिकार-अपूर्ति में प्राणी क्षोभ तथा क्रोध में आबद्ध हो जाता है। बलपूर्वक अधिकार-पूर्ति करने से परस्पर गहरी भिन्नता उत्पन्न होती है, जो संघर्ष का मूल है। कर्त्तव्य-परायणता से ही परस्पर कर्त्तव्य की भावना पोषित होती है, जो एकता की जननी है। प्राकृतिक नियमानुसार जो जीवन में है, वही विभु होता है। अतः कर्त्तव्य-परायणता से ही समाज में परस्पर कर्त्तव्य-परायणता आती है और अधिकार लालसा से ही

दूसरों में अधिकार की माँग उत्पन्न होती है। इस कारण अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करना ही विकास का मूल है। पर यह तभी सम्भव होगा जब दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार न मानें, प्रत्युत दूसरे के अधिकार को अपना कर्त्तव्य माने, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति ही न हो। राग रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष लगता है और योगरूपी वृक्ष में ही तत्त्वज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेम रूपी रस से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से राग रहित होने में ही समस्त विकास निहित हैं।

अपने अधिकार का त्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति राग तथा क्रोध रहित नहीं हो सकता। यह सभी को विदित है कि अधिकार की अपूर्ति क्षुभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षुब्ध होते ही व्यक्ति संतुलन खो बैठता है। असंतुलन आते ही क्रोध की अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, जिसके होते ही सजगता तथा सावधानी शेष नहीं रहती और विस्मृति का जन्म होता है। कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य को उत्पन्न करती है, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान में आबद्ध करती है एवं प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियों को जन्म दे प्रीति से विमुख कर देती है। इस कारण मानव-जीवन में क्षोभ

तथा क्रोध का कोई स्थान ही नहीं है। अकर्त्तव्य के आते ही जीवन जगत के लिए, देहाभिमान दृढ़ होते ही जीवन अपने लिए और आसक्तियों में आबद्ध होते ही जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से क्षोभ तथा क्रोध के समान और कोई भयंकर विकार नहीं है, जिसकी निवृत्ति अपने अधिकार के त्याग में ही निहित है। अतः दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मानना भूल है और सर्वथा त्याज्य है।

दूसरों की उदारता को अपना गुण मानने पर मिथ्या देहाभिमान ही पोषित होता है जो समस्त विकारों का मूल है। अतः किसी भी मानव को किसीकी उदारता को अपना गुण नहीं मानना चाहिये। जो मानव दूसरों की उदारता को अपना गुण नहीं मानते हैं, उनमें हृदयशीलता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही नीरसता सरसता में, कटुता मधुरता में, और भिन्नता अभिन्नता में विलीन हो जाती है, जो विकास का मूल है।

देहाभिमान से ही प्राणी अपने में गुणों का आरोप कर लेता है। वास्तव में तो समस्त दिव्य गुण स्वतःसिद्ध हैं, किसी की उपार्जित वस्तु नहीं हैं। जब मानव निज-विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए तथा किये हुए दोषों का त्याग कर देता है तब नित्य प्राप्त निर्दोष तत्त्व से

उसकी स्वत: अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही जीवन निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि से परिपूर्ण हो जाता है और परिच्छिन्नता स्वत: नष्ट हो जाती है। भेद और भिन्नता की गंध भी नहीं रहती, जिससे सर्वतोमुखी विकास स्वत: होता है।

उदारता के बिना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सद्‌व्यय नहीं हो सकता। दु:खियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही उदारता की पराकाष्ठा है। दूसरों की उदारता का आदर करते हुए उदार होने का मानव मात्र को अथक प्रयास करना है तभी प्राणी सुखासक्ति का अन्त कर स्वाधीन हो सकता है। पर यह तभी सम्भव होगा जब किसी की उदारता को अपना गुण न माने, अपितु उदारतापूर्वक प्राप्त सुख का सद्‌व्यय करता रहे। तभी परस्पर एकता सुरक्षित रह सकती है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में ही हो सकता है। प्राणी निर्बलों की अपेक्षा ही अपने को सबल मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्बलों के बिना अपनी सबलता का भास ही नहीं होता। इस दृष्टि से सबलता निर्बलों की देन है। प्राकृतिक नियमानुसार जिसकी जो देन है, उसे उसी की सेवा

में व्यय करना है। अतः बल निर्बल की धरोहर है। उसे अपना मानना भूल है। जो व्यक्ति, समाज, वर्ग अथवा देश किसीकी निर्बलता को अपना बल मान लेता है, उसमें मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति हो जाती है, जिसके होते ही वह प्राप्त बल का दुरुपयोग कर बैठता है। प्राकृतिक नियमानुसार बल के दुरुपयोग में ही निर्बलता निहित है अर्थात बल के दुरुपयोग से सबल निर्बल हो जाता है। इसी कारण कालान्तर में विजयी पराजित और पराजित विजयी होता है। अतः किसी की निर्बलता को अपना बल न मानें, अपितु यह भली-भाँति जानें कि बल निर्बल की धरोहर है, बल के द्वारा निर्बलों की सेवा कर, सीमित बल के अभिमान से रहित हो, प्राणी अनन्त बल से अभिन्न हो सकता है, जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि कोई भी व्यक्ति, समाज, वर्ग, देश आदि सर्वांश में सबल अथवा निर्बल नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आंशिक सबलता तथा निर्बलता सभी में विद्यमान है। आंशिक बल का सदुपयोग करने से बल की वृद्धि और उसके दुरुपयोग से बल का ह्रास होता है। इस कारण बल का दुरुपयोग सभी के लिए अहितकर है। बल के दुरुपयोग का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु सदुपयोग करना अनिवार्य है, जो सभी के

लिए सर्वदा हितकर है। पर यह तभी सम्भव होगा जब किसी की निर्बलता के आधार पर अपने को सबल न मानें। यही परस्पर संघर्ष के नाश का महामंत्र है, जिसका अनुसरण प्रत्येक व्यक्ति, समाज, वर्ग, देश आदि को करना परम आवश्यक है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण एवं किसी की निर्बलता को अपना बल न मानने में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण निहित है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने निज-विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तु स्थिति का अध्ययन कर वास्तविक जीवन की खोज की है।

छठा नियम

पारिवारिक तथा जातीय संबन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक संबोधन तथा सद्भाव अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता—

यह सभी को भलीभाँति विदित है कि प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में अनुत्पन्न हुआ एक तत्त्व है। यदि ऐसा न हो तो उत्पत्ति, स्थिति और लय सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति विश्व रूपी सागर की एक बूँद है। सिन्धु और बिन्दु में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। गुणों की भिन्नता होने से कर्म की भिन्नता और जातीय तथा स्वरूप की एकता होने से लक्ष्य की एकता स्वाभाविक है।

जिस प्रकार प्रत्येक कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय के कर्म में भेद होने पर भी लक्ष्य की एकता रहती है अर्थात शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और उनके कर्म में भिन्नता होने पर भी प्रीति में एकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, समाज, वर्ग एवं देश की रचना में भिन्नता होने पर भी स्नेह तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब अनेक प्रकार के भेद होने

पर भी परस्पर सम्बोधन तथा सद्भाव पारिवारिक तथा जातीय एकता के तुल्य ही किया जाय। सद्भाव-पूर्वक पारिवारिक सम्बन्ध के अनुरूप सम्बोधन तथा कर्म में पवित्रता परस्पर प्रीति की एकता सुरक्षित रखने में हेतु है। सम्बन्ध कर्त्तव्य का प्रतीक है, अधिकार का नहीं। कर्त्तव्य-पालन से ही प्राणी मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का सद्व्यय कर सकता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। अपने अधिकार के त्याग से ही जीवन में निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्वीकृति कर्त्तव्य की प्रतीक है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और निष्कामता 'स्व' के लिए हितकर है। कर्त्तव्य के बिना परस्पर एकता सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना असंगता तथा आत्मीयता सजीव नहीं होती। असंगता के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता और आत्मीयता के बिना अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। इस कारण कर्त्तव्यपरायणता तथा निष्कामता का सम्पादन प्रत्येक भाई-बहन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य है कि समस्त विश्व का आश्रय और प्रकाशक एक है, दो नहीं अर्थात जगत जिसका कार्य है, वह कारण एक है। कारण में एकता होने पर भी

कार्य में भिन्नता होती ही है, यह वैज्ञानिक सत्य है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कार्य अपने कारण के आश्रित ही रहता है अर्थात कार्य में सत्ता कारण की ही होती है, परन्तु फिर भी कारण की अपेक्षा कार्य में गुणों की भिन्नता हो जाती है, जिससे एकता में अनेकता प्रतीत होती है। अनेकता भासित होने पर भी एकता का संचार हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि पारस्परिक व्यवहार आत्मीयता पूर्वक किया जाय। वह तभी सम्भव होगा जब सर्वात्मभाव स्वीकार किया जाय अथवा यह जान लिया जाय कि प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति विश्व रूपी सागर की ही लहरें हैं अथवा यह मान लिया जाय कि जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है, समस्त विश्व उसी की अनुपम लीला है। इस प्रकार अनेकता में एकता का दर्शन बहुत ही सुगमता-पूर्वक हो सकता है, जिसके होते ही राग तथा द्वेष शेष नहीं रहते। राग का अन्त होते ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति और द्वेष का अन्त होते ही प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः होता है जो सभी की माँग है।

सद्भाव के बिना हृदयशीलता उदित नहीं होती जो प्रीति का उद्गम है। प्रीति ही एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है जिसकी जागृति होते ही अकर्त्तव्य और आसक्ति निर्मूल हो जाते हैं। अर्त्तव्य और आसक्ति के नाश में ही कर्त्तव्य-

परायणता तथा असंगता निहित है। कर्त्तव्यपरायणता में सुन्दर समाज का निर्माण तथा असंगता में अपना कल्याण निहित है। इस दृष्टि से मानव मात्र को सद्भाव सुरक्षित रखना अनिवार्य है। सद्भावपूर्वक सम्बोधन से ही पारस्परिक व्यवहार में पवित्रता आती है, जिससे सच्च-रित्रता सुदृढ़ होती है और व्यक्ति तथा समाज का निर्माण होता है जो विकास का मूल है।

साधन-रूप स्वीकृति ही वास्तविक स्वीकृति है। स्वीकृति के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। सर्व हितकारी प्रवृत्ति तभी सम्भव है, जब उन सभी स्वीकृतियों का अन्त कर दिया जाय जो कर्त्तव्य की प्रतीक नहीं हैं।

अकर्त्तव्य और असाधन का नाश करने के लिए ही मानव-समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की गई है। अतएव सम्बन्ध के अनुरूप ही सम्बो-धन अनिवार्य है। देहाभिमान में आबद्ध प्राणी अपवित्रता से रहित तभी हो सकता है जब वह अपनी सांस्कृतिक मर्यादा एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप स्वीकार किये गये सम्बन्धों के अनुसार ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्-व्यवहार करे।

व्यवहार-शुद्धि के बिना स्वार्थभाव नष्ट नहीं होता। उसका नाश हुए बिना राग-रहित होना सम्भव नहीं है।
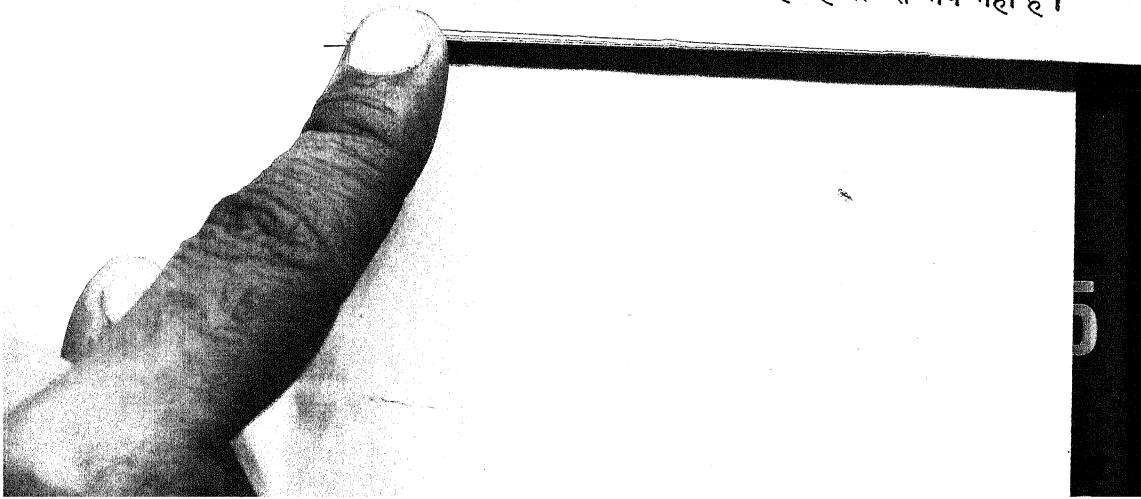
राग की भूमि में ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। इस कारण प्रत्येक भाई-बहन को निर्विकारता से अभिन्न होने के लिए राग रहित होना अनिवार्य है। विकारयुक्त जीवन न तो अपने ही लिए उपयोगी है और न अन्य के लिए। किसी को भी बेईमान साथी नहीं चाहिये। ईमानदार व्यक्ति की माँग सभी को है अथवा यों कहो कि जो अपनी माँग है वही विश्व की माँग है। सद्‌व्यवहार अनेकता में एकता और भिन्नता में अभिन्नता की स्थापना करता है। भिन्नता से स्वार्थ-भाव और अभिन्नता से सेवा-भाव की वृद्धि होती है। स्वार्थ-भाव रहते हुए किसी का भी विकास सम्भव नहीं है। इस कारण भिन्नता का नाश अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की जाय। प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है। कर्म की भिन्नता प्रीति की एकता में बाधक नहीं है, अपितु प्रीति की एकता कर्म की भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। भिन्नता की भूमि में ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है जो विनाश का मूल है। इस कारण भिन्नता को अभिन्नता में विलीन करना अनिवार्य है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्‌भाव रखना अनिवार्य है जो विकास का मूल है।

सातवाँ नियम

निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

यह सभी को विदित है कि वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के रूप में जिस किसी भाई-बहन को जो कुछ मिला है वह व्यक्तिगत नहीं है अपितु समष्टि शक्तियों से ही निर्मित है। यह नियम है कि मिले हुए के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है। अतः प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता द्वारा निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है। सेवा-भाव से की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति अल्प हो अथवा विशेष, समान अर्थ रखती है। सेवा का फल चित्त की शुद्धि है, किसी परिस्थिति विशेष की प्राप्ति नहीं। प्राप्त का सदुपयोग आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता की प्राप्ति में भी हेतु है। पर यह सेवा का गौण फल है, मुख्य नहीं। सेवा का आरम्भ दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही निहित है। अर्थात करुणा तथा प्रसन्नता ही वास्तविक सेवा का स्वरूप हैं। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्नता काम रहित कर देती है। सुख-भोग की

रुचि का नाश होते ही मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग समीपस्थ प्राणियों के हित में स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही परस्पर एकता का संचार और भिन्नता का नाश अपने आप होता है। भिन्नता के नाश में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है और श्रम-रहित होते ही देहाभिमान गल जाता है जो अपने कल्याण में हेतु है। इस दृष्टि से सेवा में ही सुन्दर समाज का निर्माण एवं व्यक्ति का कल्याण है।

सुख भोग की रुचि का नाश हुए बिना नित्य-योग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। किसी अभ्यास विशेष से अल्पकाल के लिए शान्त हो जाना एक अवस्था विशेष है, नित्य-योग नहीं। नित्य-योग साधक को नित्य-जीवन से अभिन्न करता है, जो सभी को अभीष्ट है। इस कारण सुख-भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है जो एक मात्र करुणित होने से ही सम्भव है। ममता-युक्त करुणा तो पशु पक्षी आदि में भी होती है, किन्तु उससे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त की शुद्धि तभी होती है जब ममता-रहित करुणा हो।

भौतिकवादी की दृष्टि से समस्त 'विश्व एक है। अध्यात्मवादी की दृष्टि से वह अपनी ही एक अवस्था विशेष है और आस्तिकवादी की दृष्टि से अनन्त की अनुपम लीला है। इस कारण सभी अपने हैं कोई पराया नहीं है।

इस सद्भाव के बिना सेवा-भाव की जाग्रति सम्भव नहीं है। यह सभी को विदित है कि भाव असीम और कर्म सीमित होता है। परन्तु असीम भाव से सीमित कर्म में पवित्रता आती है और उससे कर्ता निष्काम हो जाता है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होते ही भोग स्वतः योग में विलीन हो जाता है। अतः समीपस्थ प्राणियों की सेवा भोगी को योगी बना देती है। योग कल्प-तरु के समान है। दुःखियों की दुःख-निवृत्ति और जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान एवं प्रेमियों को प्रेमास्पद की प्राप्ति योग में ही निहित है। इतना ही नहीं, समस्त विकास की भूमि चिर-विश्राम ही है, जो योग से साध्य है। निज विवेक के आदर में ही पवित्र भाव की अभिव्यक्ति होती है। पवित्र भाव से भावित कर्म द्वारा कर्ता काम रहित होता है। काम रहित होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है। इस कारण प्राप्त विवेक का आदर करना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निज-विवेक के अनादर से ही स्वार्थ भाव की उत्पत्ति होती है, जो सुख-भोग की रुचि, प्रवृत्ति और आशा में प्राणी को आबद्ध करती है, जो विनाश का मूल है।

सेवा-भाव की अभिव्यक्ति होने पर ही स्वार्थ-भाव का सर्वांश में नाश होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक वर्तमान

कर्त्तव्य कर्म सेवा-भाव से भावित होकर ही करना है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन और भौतिकवादी का स्वधर्म है। पूजा की पूर्णता पुजारी को प्रेम से अभिन्न करती है और साधन असाधन को खाकर साधक साध्य से अभिन्न करता है। स्वधर्म राग-द्वेष रहित कर कर्ता को चिर-शान्ति प्रदान करने में हेतु है। प्रत्येक दृष्टिकोण से की हुई सेवा विकास का मूल है। दार्शनिक भेद होने पर वास्तविकता में कोई भेद नहीं होता, कारण कि दर्शन अनेक और जीवन एक है।

सेवक की प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहिता, निर्लोभता, और निष्कामता से युक्त होती है। उसके जीवन में कोई और तथा गैर नहीं है। सभी अपने हैं और अपने होने से स्वभाव से ही प्रिय हैं। प्रियता निष्कामता के बिना विभु नहीं होती। सीमित प्रियता आसक्तियों की जननी है और असीम प्रियता में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जो वास्तविक जीवन है। इस कारण निकटवर्ती प्राणियों की सेवा करना अनिवार्य है।

यह सभी को विदित है कि प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख-युक्त है। सुख का सदुपयोग दुःखियों की सेवा में ही है। इस कारण प्राप्त सुख दुःखियों की धरोहर है। उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, आदरपूर्वक, पवित्र भाव से,

दुःखियों को भेंट करना है। तभी मानव सुख की दासता से रहित हो सकता है, जिसके होते ही दुःख का भय स्वतः नष्ट हो जाता है। सेवा सुखी एवं दुःखी में एकता और स्वार्थभाव भिन्नता उत्पन्न करता है। एकता में शान्ति की स्थापना और भिन्नता से संघर्ष का जन्म होता है। शान्ति सामर्थ्य की जननी है और संघर्ष विनाश का मूल है। अतः प्रत्येक कर्म सेवा-भाव से ही करना है। यदि किसी कारण सेवा नहीं कर सकते तो त्याग अनिवार्य है। त्याग से सेवा की सामर्थ्य आती है और सेवा से त्याग परिपक्व होता है। सेवा और त्याग में ही कर्त्तव्य की पूर्णता है। सेवा के अन्त में त्याग और त्याग की पूर्णता में सेवा स्वतः होने लगती है।

सेवा-भाव असीम और क्रिया ससीम होती है। असीम भाव से ससीम क्रिया में पवित्रता आती है और पवित्र क्रिया से असीम भाव सजीव होता है। सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपने लिए केवल वे ही अपने हैं जो सभी के प्रकाशक तथा आश्रय हैं। जो सर्व का प्रकाशक है, वह सभी का परम सुहृद् है। उसी के नाते सेवा करना है। सेवा का क्रियात्मक रूप भले ही ससीम हो, पर भाव असीम होना चाहिये। ससीम भाव से की हुई सेवा परस्पर व्यक्तियों, वर्गों और देशों में संघर्ष उत्पन्न
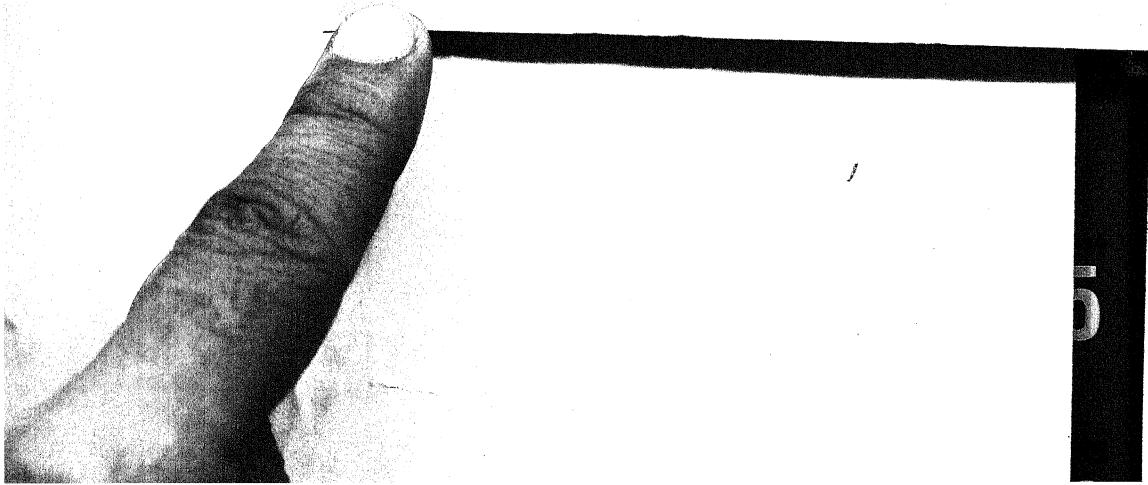
करती है। सेवा की पूर्णता प्रेम के प्रादुर्भाव में है, संघर्ष में नहीं। अतः प्रत्येक सेवा-कार्य के मूल में भाव असीम होना अनिवार्य है। किसी के ह्रास में किसी का विकास करने की भावना सेवा नहीं है, अपितु स्वार्थभाव है। सेवा वही कर सकता है जिसने सर्व हितकारी सद्भावना को अपनाया है। सभी के हित में रति होने पर ही सेवा-भाव सजीव होता है। अतः सेवा-भाव से भावित होकर ही निकटवर्ती जन-समाज की क्रियात्मक रूप से सेवा करते हुए प्रत्येक भाई-बहन अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है।

आठवाँ नियम

शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, कारण कि इसी जीवन में प्राणी साधन-परायण होकर वास्तविक जीवन अर्थात चरम लक्ष्य से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो सकता है। अतः मानव मात्र पर यह दायित्व है कि मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय करे। वह तभी सम्भव होगा जब शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में यथाशक्ति स्वावलम्बन को अपनाये। परन्तु सुख लोलुपता के कारण मानव शारीरिक हित की दृष्टि को त्याग सुख भोग में प्रवृत्त होता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी देहाभिमान में आबद्ध हो जाता है और उसे उस भोग का परिणाम रोग, शोक आदि भोगना पड़ता है। अतः मानव-जीवन की सार्थकता सुख के प्रलोभन को त्याग हित में रत होने में है। अहितकर चेष्टाओं में प्रवृत्त होना जीवन का अनादर है, प्राकृतिक नियम का विरोध है और अनन्त के मंगलमय विधान का

उल्लंघन है जो सर्वनाश का मूल है। यह सभी को विदित है कि पशु-जीवन में प्राकृतिक नियम का यथेष्ट पालन है परन्तु मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर हित-कर प्रवृत्तियों से विमुख हो सुखकर विलास में आबद्ध हो अपने को दीन-हीन बना लेता है और साधनयुक्त जीवन से वंचित हो जाता है। इस कारण सुख-बुद्धि को त्याग, हित-बुद्धि को अपनाना प्रत्येक भाई-बहन के लिए परम आवश्यक है।

आहार का उपयोग प्राण अर्थात जीवनी-शक्ति बनाये रखने में है और विहार का सम्बन्ध मानसिक सन्तुलन को सुरक्षित रखने में। अतः आहार वही उपयोगी है जिससे जीवनी-शक्ति का पोषण हो और विहार वही हितकर है जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो। वह आहार जो सुखकर है, पर हितकर नहीं और वह विहार जिससे नवीन राग की उत्पत्ति हो सर्वथा त्याज्य है। यह सभी को मान्य है कि प्राण-शक्ति क्षीण होने पर प्राणी असमर्थता में आबद्ध होता है, जिससे वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म पूरा नहीं होता, जिसके बिना हुए जीवन जगत के लिए उपयोगी नहीं होता। अतः जीवनी-शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए हितकर आहार अनिवार्य है।

आहार बहुधा तीन प्रकार के होते हैं, हितकर,

रुचिकर तथा सुखकर। हितकर आहार वही है जो स्वभाव से सात्त्विक और सुपच हो तथा जिसकी प्राप्ति किसी के अहित से न हो अर्थात जिसका उत्पादन हिंसात्मक न हो। खाद्य पदार्थों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं जो स्थूल शरीर के लिए तो उपयोगी हों किन्तु सूक्ष्म शरीर के लिए हानिकर हों। भोजन-विज्ञान की दृष्टि से आहार का निर्णय करते समय इस बात का ध्यान रहे कि स्थूल शरीर के पोषण के लिए कहीं प्रमादवश सूक्ष्म शरीर का अहित न हो जाय। कारण कि स्थूल शरीर नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर शेष रहता है। इतना ही नहीं, स्थूल शरीर के रहते हुए भी सूक्ष्म शरीर को शुद्ध रखना अनिवार्य है। कारण कि सूक्ष्म शरीर के अशुद्ध होते ही वर्तमान विकास में भी बाधा होती है और भावी विकास भी नहीं होता। अतः आहार का सम्बन्ध केवल शरीर के अंगों को हृष्ट-पुष्ट करना ही नहीं है, अपितु इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को भी स्वस्थ रखना है। वह तभी सम्भव होगा जब उस आहार का जो सूक्ष्म शरीर के लिए हितकर नहीं है, त्याग कर दिया जाय। क्षोभ, क्रोध, असहनशीलता आदि दोषों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के अस्वस्थ होने से ही है। अतः आहार वही उपयोगी है जिससे स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों का हित हो।

साधारणतः इस रहस्य पर दृष्टि नहीं रहती, जो वास्तव में प्रमाद है।

रुचिकर और सुखकर भोजन में केवल इतना अन्तर है कि रुचि षट्रसों में से किसी रस विशेष की होती है और सुखकर भोजन में वस्तु विशेष का आग्रह होता है। रुचिकर आहार शरीर की माँग है और सुखकर आहार स्वाद की आसक्ति है। यद्यपि स्वाद भी आहार का एक अंग है, उससे शरीर में भोजन पचाने के रसों की निष्पत्ति होती है, किन्तु स्वाद की आसक्ति के कारण वस्तुविशेष का आग्रह हो जाता है, रस विशेष का नहीं। इस भूल से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। हितकर और रुचिकर भोजन सदैव करना है। विद्यमान राग की निवृत्ति की दृष्टि से औषधि के समान कभी-कभी सुखकर भोजन भले ही कर लिया जाय, किन्तु उसमें कोई ऐसी वस्तु न हो जो सूक्ष्म शरीर के लिए अहितकर हो। स्वाद अभ्यास से बनता है, स्वभाव से नहीं होता। स्वभाव से रस में स्वाद है वस्तु में नहीं। तीव्र तथा उत्तेजक रसों का अधिक मात्रा में सेवन करने से रसना की शक्ति क्षीण हो जाती है, जिसके होने से स्वाभाविक स्वाद ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती। इस कारण सात्विक वस्तुओं में रुचि नहीं रहती और राजस तथा तामस वस्तुएँ रुचिकर प्रतीत होती हैं। इस बनावटी

रुचि का नाश करने के लिए वस्तुओं के आग्रह को त्याग रस का आग्रह रखना चाहिये। शरीरको सभी रसों की माँग होती है। अतः जिस वस्तु में स्वभाव से जो रस विद्यमान है, उसे उसी रूप में सेवन करने से सात्विक आहार में रुचि हो जाती है और राजस अथवा तामस आहार रुचिकर नहीं रहता। सात्त्विक आहार करने से आहार में आसक्ति नहीं होती और राजस तथा तामस आहार से रज और तम की वृद्धि होती है जो ह्रास का मूल है।

भोजन वास्तव में यज्ञ है, उपभोग नहीं। इस दृष्टि से भोजन में उन्हीं वस्तुओं को लेना चाहिये जिनसे प्राण-देवता की यथावत पूजा-सेवा हो सके अर्थात प्राण-शक्ति सुरक्षित रह सके। यज्ञ में उन्हीं वस्तुओं का उपयोग होता है अर्थात आहुति दी जाती है जो हितकर हों और हित उन्हीं वस्तुओं से होता है, जो स्वभाव से सात्त्विक हों।

भोजन कब और कैसे करना चाहिये—इसकी जानकारी भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिन के दूसरे पहर में और रात्रि के प्रथम पहर में ही भोजन कर लेना चाहिये। भोजन शान्त तथा प्रसन्न चित्त से चबा-चबा कर करना चाहिये, जिससे राल (Saliva) पर्याप्त मात्रा में मिल जाय। इस सम्बन्ध में किसी-किसी ने तो

यहाँ तक कह दिया है कि भोज्य पदार्थों को पीओ और पेय पदार्थों को खाओ अर्थात् भोज्य पदार्थों को इतना चबाओ कि वह तरल बन जाय। भोजन की मात्रा न तो अधिक हो, न कम। भोजन उतनी ही मात्रा में करना चाहिये, जिससे पेट का भान न हो। पेट का भान न्यून या अधिक आहार करने पर ही होता है। ये दोनों स्थितियाँ ही अप्राकृतिक हैं। कुछ न कुछ शारीरिक श्रम बिना किये भोजन करना अहितकर है, अतएव कुछ श्रम करने के पश्चात ही भोजन करना चाहिये। भोजन की उत्पत्ति तथा उसके पचाने का सम्बन्ध सूर्य से है। इसी कारण दिन के दूसरे पहर के भीतर और रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करना हितकर होता है। भोजन उन्हीं लोगों का बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेह की एकता हो। भोजन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि अपने समीप कोई ऐसा प्राणी तो नहीं है जिसने भोजन न किया हो। जहाँ तक हो सके बाँटकर ही भोजन करना चाहिये। भोजन बनाते तथा बनवाते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बनाये हुए भोजन में से दूसरों को भी देना है। केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अथवा बनवाना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी ने उस अवस्था में भी भोजन

किया है जब कि वह स्वयं नहीं बना सकता था। इस निर्विवाद सत्य का सदैव आदर करना चाहिये। स्मरण रहे कि हमें जो कुछ मिला है वह किसी की देन है। अतएव देने के योग्य होने पर देकर ही भोजन करना चाहिये।

विहार मन, इन्द्रिय आदि का भोजन है। इस सम्बन्ध में भी यथेष्ट ध्यान रखना अनिवार्य है। मन, इन्द्रिय आदि में उत्पन्न हुए वेग को दबाना अथवा अमर्यादित ढंग से पूरा करना अहितकर है। जो वेग उत्पन्न हो उसको नियमानुकूल साधन-बुद्धि से पूरा करना चाहिये। वेग छिपे हुए राग का परिणाम है। जिस राग को विवेक-पूर्वक नहीं मिटा पाते उसकी वास्तविकता का अनुभव करने के लिए नियमित एवं मर्यादित प्रवृत्ति अनिवार्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वाभाविक निवृत्ति को अपना कर मन एवं इन्द्रिय आदि को स्वस्थ तथा शान्त करना चाहिये; क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में मन, इन्द्रिय आदि के शान्त तथा स्थिर होने पर ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है, जो उन्नति का मूल है।

छींक, प्यास, भूख, निद्रा एवं मलमूत्र-त्याग आदि शारीरिक वेगों का यथा समय तुरन्त निवारण करना ही स्वास्थ्यकर है। काम-वेग के सम्बन्ध की बात पर भी विचार करना आवश्यक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से

काम का वेग शरीर के अन्य सभी वेगों से बलवान तथा प्रधान है। जब तक सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो जाता तब तक काम पर विजयी होना सम्भव नहीं। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रिय जन्य ज्ञान का सद्भाव जब तक रहता है तब तक काम का अन्त नहीं हो पाता। अतः काम पर विजयी होने के लिए शरीर की वास्तविकता का यथेष्ट ज्ञान तथा अपने अभीष्ट में अत्यन्त प्रियता का जाग्रत होना अनिवार्य है, कारण कि लक्ष्य की प्रियता का रस सभी इच्छाओं को खाकर तीव्र लालसा उत्पन्न करता है। अतः वह काम का अन्त करने में समर्थ है। किसी आस्तिक का कथन है कि राम की लालसा काम को खाकर राम से अभिन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत दैनिक कार्य अपने आप कर लेना चाहिये। किसी अन्य की सहायता उस समय तक न ली जाय जब तक कोई विवशता न आ जाय; कारण कि स्वयं अपना काम अपने आप न करने से श्रम के महत्त्व का अनादर होता है, जिससे प्राणी आलसी, विलासी और संग्रही बन जाता है, इससे सिक्के का महत्त्व बढ़ता है जो प्राणी में संग्रह की भावना उत्पन्न करता है। इससे प्राणी में तो मिथ्याभिमान आ जाता है और समाज में दरिद्रता की वृद्धि होती है। अतः स्वावलम्बन को अपना

कर समाज में श्रम का महत्त्व बढ़ाना है, जिससे परस्पर एकता की वृद्धि और दरिद्रता का नाश होना सम्भव है तथा अपने को आलस्य, अभिमान एवं विलासिता से मुक्त कर वास्तविक जीवन का अधिकारी बना लेना है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बी होना परम आवश्यक है।

नवाँ नियम

शरीर श्रमी, मन संयमी, हृदय अनुरागी, बुद्धि विवेकवती तथा अहं को अभिमान्य शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए उपरोक्त नियम का अक्षरश: पालन करना अनिवार्य है। शरीर श्रमी अर्थात आलस्य और अकर्मण्यता का अंत कर वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को अधिकार लालसा से रहित, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से पूरा करना प्रत्येक भाई-बहन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान कार्य को जमा रखने से न तो भूतकाल की भूलों का चिन्तन ही नाश होता है और न भविष्य ही उज्ज्वल बनता है। इस कारण वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। आवश्यक एवं यथेष्ट श्रम के बिना वास्तविक विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। आलस्य और विश्राम में एक बड़ा अन्तर यह है कि बेचारा आलसी व्यर्थ चिन्तन अर्थात मिथ्याचार में आबद्ध रहता है। ऊपर से अकर्मण्य रहने पर भी व्यर्थ चिन्तन द्वारा मानसिक शक्ति का ह्रास करता रहता है, जो अनर्थ का मूल है। इस दृष्टि से मानव-जीवन

में आलस्य तथा अकर्मण्यता का कोई स्थान ही नहीं है, अपितु नित-नव-उत्साह पूर्वक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म करना अनिवार्य है, जो विकास का मूल है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य-निष्ठ हुए बिना समय का आदर नहीं हो पाता। समय के अनादर में जीवन का घोर अनादर है। समय लगा कर वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु किसी भी वस्तु के बदले में बीता हुआ समय हाथ नहीं आ सकता। इस दृष्टि से समय बड़ा ही मूल्यवान है। अतः समय का आदर करने के लिए श्रमी होना अनिवार्य है। श्रम का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि सामर्थ्य विरोधी कार्य करने का प्रयास करें अपितु श्रम द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है और जो कर सकते हैं वह कार्य पूरा हो जाता है। जो नहीं कर सकते हैं उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने से मन में संयम अपने आप आने लगता है। यह सभी को विदित है कि आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति के बिना मानसिक शान्ति सुरक्षित नहीं रहती जो ह्रास का मूल है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का त्याग अर्थात विवेक तथा सामर्थ्य विरोधी संकल्पों का नाश करना अनिवार्य है। जिसके करते ही आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे होने लगते हैं। यह प्राकृतिक नियम है परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख

का भोग करने से संयम सिद्ध नहीं होता, कारण कि संकल्प पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्पों की उत्पत्ति में हेतु है। यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि सभी संकल्प किसी के भी पूरे नहीं होते और कुछ संकल्प सभी के पूरे होते हैं। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प को जन्म देता है। अतः अशुद्ध संकल्पों की पूर्ति का तो मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख का भोग भी नहीं करना है अर्थात संकल्प-पूर्ति ही जीवन का उद्देश्य है, इस प्रमाद का नाश करना अनिवार्य है तब अपने आप प्रत्येक संकल्प पूर्ति के अंत में संकल्प-निवृत्ति आती है, जिसके आते ही साधक शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति के सुख की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण करने से भी संयम सिद्ध नहीं होता। अतः न तो संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत होना है और न संकल्प पूर्त्ति के सुख का भोग तथा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना है, अपितु दुःख-सुख तथा शान्ति से असंग होने में ही संयम की पूर्णता है।

शारीरिक श्रम द्वारा आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर मन का संयम आरम्भ

होता है। प्राकृतिक नियमानुसार एक साधन की पूर्णता में दूसरे साधन का आरम्भ निहित है। अतः शरीर के श्रमी होने पर मन में संयम का आरम्भ होता है जिसके होते ही मन निर्विकल्प हो जाता है। मन की निर्विकल्पता सिद्ध होते ही बुद्धि सम होती है, कारण कि संकल्प की उत्पत्ति होने पर ही बुद्धि विवेचन करती है। मन की निर्विकल्पता से ही बुद्धि में समता आती है, जो वास्तव में योग है। योग कल्पतरु के समान है, उससे जिज्ञासुओं को विचार, प्रेमियों को प्रेम और भौतिकवादियों को आवश्यक सामर्थ्य मिलती है। मन के संयमी होने पर बुद्धि स्वतः विवेकवती हो जाती है, जिसके होते ही देह-देही विभाजन अपने आप हो जाता है और फिर निर्वासना आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इतना ही नहीं, विवेकवती बुद्धि होते ही प्रत्येक मानव को अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का स्पष्ट बोध हो जाता है, जो विकास का मूल है।

वासनाओं के नाश में ही निर्मोहता निहित है और देह-देही विभाजन होते ही पराधीनता तथा जड़ता का अभाव हो जाता है अर्थात स्वाधीनता तथा चिन्मय-जीवन से अभिन्नता होती है। इस कारण विवेकवती बुद्धि

से ही स्वाधीनता प्राप्त होती है, किन्तु स्वाधीनता में भी संतुष्त नहीं होना है, तभी हृदय में अनुराग की अभिव्यक्ति होती है। अनुरागी हृदय में ही सेवा-भाव सजीव होता है। दुःखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होना अनुरागी हृदय का स्वभाव ही है। इतना ही नहीं, अनुराग के बिना भक्ति रस की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार संभव नहीं है। यह सभी को मान्य है कि निष्कामता के बिना परम शान्ति और विवेकपूर्वक असंगता के बिना स्वाधीनता तथा चिन्मय-जीवन से अभिन्नता और अनुराग के बिना नित-नव-रस की अभिव्यक्ति अर्थात अगाधप्रियता की जाग्रति संभव नहीं है, जो वास्तविक जीवन है। वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म की पूर्णता में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा संयम का आरंभ है। संयम की पूर्णता में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा निज-विवेक का आदर निहित है। विवेकवित होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जिससे साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक जड़ता से रहित हो जाता है। जड़ता के नाश में ही चिन्मय-जीवन की अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से समता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु समता से उदित स्वाधीनता में भी संतुष्ट नहीं होना है, तभी अहम् रूपी अणु का नाश होता है, जिसके होते ही निरभि-

मानता तथा अपरिच्छिन्नता का प्रादुर्भाव होता है, जो विकास की पराकाष्ठा है।

कर्त्तव्यपरायणता से विद्यमान राग का नाश होता है और संयम से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। विवेकवित होते ही राग-रहित होने का अभिमान नहीं रहता अर्थात दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और गुणों का भोग नहीं होता। राग-रहित भूमि में ही योग रूपी वृक्ष उगता है और उस पर ही तत्त्व ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेमरूपी रस से परिपूर्ण है। बस, यही मानव-जीवन की पूर्णता है। अतः आलस्य का अन्त करने के लिए श्रमी, असंयम के नाश के लिए संयमी, अविवेक का अन्त करने के लिए विवेकवित, रागद्वेष से रहित होने के लिए अनुरागी और परिच्छिन्नता का नाश कर प्रत्येक भाई-बहिन को अभिमान शून्य होना अनिवार्य है। शरीर, मन, बुद्धि, हृदय तथा अहम् सभी मानव मात्र को प्राप्त हैं। अतः जो प्राप्त है उसको सर्वांग सुन्दर बनाने का दायित्व मानव मात्र पर है। इस कारण उपरोक्त नियम का पालन कर अपने को सुन्दर बनाना अनिवार्य है।

दसवाँ नियम

सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

गंभीरतापूर्वक यथेष्ठ विचार करने पर यह प्रत्येक भाई तथा बहिन को विदित होगा कि सिक्के का आविष्कार वस्तुओं और श्रम के परस्पर आदान-प्रदान में माध्यम मात्र के लिए है। सिक्के की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जिन धातुओं से सिक्का निर्मित हुआ है, वे धातु भले ही उपयोगी सिद्ध हों, सिक्का तो केवल राष्ट्र का प्रतीकात्मक चिह्न मात्र है। उसके द्वारा व्यवहार में व्यवहारिक सुविधा होती है, परन्तु सिक्के का संग्रह तो बहुत ही दुःखद सिद्ध हुआ है। आलस्य, अकर्मण्यता तथा अभिमान के पोषण में सिक्के का बहुत बड़ा हाथ है। यद्यपि सभी दोषों की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, किन्तु उनका पोषण करने में सिक्के का मुख्य स्थान है। आज सिक्के के बल पर साधारण व्यक्ति बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं तथा कलाकारों को खरीद लेता है अर्थात शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम सिक्के

के आधीन हो गया है, जिसका बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ है, जो सभी विचारशीलों को विदित है।

जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है जिनकी उत्पत्ति एकमात्र प्राकृतिक पदार्थ तथा शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम में ही निहित है। उत्पन्न हुई वस्तुओं का संग्रह उस सीमा तक सुविधापूर्वक संभव नहीं है जिस सीमा तक सिक्के का संग्रह कर लिया जाता है। संग्रह की रुचि आलस्य को जन्म देती है। आलस्य की वृद्धि होने पर आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में विघ्न होता है। सिक्के का संग्रह आलसी व्यक्तियों की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पूरा-पूरा सहयोग देता है, जिससे वे बेचारे उत्तरोत्तर अकर्मण्यता की ओर अग्रसर होते रहते हैं, जो विनाश का मूल है। इतना ही नहीं, सिक्का उन बेचारों को अभिमानी बना देता है, जिससे वे अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर बैठते हैं।

मानव सेवासंघ की नीति में वस्तुओं का उत्पादन सिक्के के संग्रह के लिए करना भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी संभव होगा जब सिक्के से वस्तुओं को अधिक महत्त्व दिया जाय। वस्तुएँ प्राणी-मात्र के लिए उपयोगी हैं। उनका उत्पादन तथा संग्रह प्राणियों की सेवा के लिए करना अत्यन्त आवश्यक है।

इसी कारण वस्तुओं से व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देना नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अविभाज्य अंग है। अतः व्यक्तियों में उन व्यक्तियों को अधिक महत्त्व दिया जाय जिन्होंने प्राप्त विवेक का आदर कर अविवेक का अन्त कर दिया है अर्थात जो विवेकवित हैं। विवेक-वित होने पर ही अपने कर्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध होता है। यह सभी को मान्य होगा कि जिन्होंने अपने अधिकार को त्याग कर दूसरों के अधिकार की रक्षा की है, वे ही विवेकी जन परस्पर एकता सुरक्षित रखने में समर्थ हुए हैं और उन्हीं के द्वारा शान्ति की स्थापना तथा संघर्ष का नाश हुआ है। इसी कारण व्यक्ति से विवेक को अधिक महत्त्व देना परम आवश्यक है। विवकवित होने पर ही व्यक्ति लोकमान्य हो सकता है। इतना ही नहीं, विवेक का आदर करने पर ही निष्कामता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति होती है अर्थात जाने हुए असत् के त्याग में विवेक ही हेतु है। इस दृष्टि से विवेक साधन और सत्य साध्य है। इस कारण विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना है।

उपरोक्त नियम का पालन करने पर अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि सुन्दर समाज के

निर्माण में परस्पर एकता का सुरक्षित रहना अनिवार्य है। वह तभी संभव होगा जब सिक्के से वस्तु को अधिक महत्त्व दिया जाय। वस्तुओं के उत्पादन में शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का मुख्य स्थान है। अतः श्रमी होने के लिए सिक्के का महत्त्व घटाना और वस्तुओं का महत्त्व बढ़ाना अनिवार्य है, किन्तु उत्पादित वस्तुओं का सद्व्यय किये बिना प्राणियों की यथोचित्त सेवा संभव नहीं है। अतः वस्तुओं से व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देना परम-आवश्यक है।

यदि व्यक्तियों से विवेक को अधिक महत्त्व न दिया गया तो कर्तव्यपरायणता तथा दूरदर्शिता न रहेगी, जो विनाश का मूल है। इस कारण यह अनिवार्य है कि एक विवेकवित पुरुष का मूल्य अनेक व्यक्तियों से कहीं अधिक है। बहुसंख्या मात्र को महत्त्व देना और विवेकी जन का अनादर करना, अनर्थ में हेतु है। अतः व्यक्तियों की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक भाई-बहन को विवेक रूपी प्रकाश प्राप्त है तथापि मोह-वश जब प्राणी विवेक का अनादर करता है तब अपने कर्त्तव्य तथा लक्ष्य से विमुख हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो व्यक्ति का कल्याण ही होता है न सुन्दर समाज का निर्माण ही।

इस कारण विवेक का उपयोग एकमात्र सत्य की खोज में है। अतः विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना है अर्थात सत्य से अभिन्न होने के लिए ही विवेक का उपयोग है।

केवल दार्शनिक दृष्टिकोण का आविष्कार करने मात्र के लिए ही विवेक नहीं मिला है। प्राकृतिक नियमानुसार दर्शन अनेक और जीवन एक है। दार्शनिक भेद होने पर परस्पर विवाद से बचने के लिए विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। उपरोक्त नियम का अनुसरण करने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

ग्यारहवाँ नियम

व्यर्थ चिन्तन, त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

यह सभी को विदित है कि व्यर्थ चिन्तन से किसी प्रकार का हित नहीं होता, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है। इस कारण उसका अन्त करना अनिवार्य है। व्यर्थ चिन्तन भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का परिणाम है और कुछ नहीं। मानव जो कर चुका है अथवा जो करना चाहता है अथवा सुने हुए देखे हुए तथा किए हुए का प्रभाव जो उसके चित्त में अंकित है, वही व्यर्थ चिन्तन के रूप में प्रगट होता है। परन्तु साधक असावधानी के कारण उस चिन्तन से तादात्म्य जोड़ लेता है तथा उसका विरोध एवं समर्थन करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध होकर सार्थक चिन्तन तथा अचिन्तता से विमुख हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिसकी प्राप्ति कर्म सापेक्ष है अथवा जो पर-प्रकाश्य है अथवा जिसमें सतत परिवर्तन हो रहा है तथा जो उत्पत्ति विनाश युक्त है, जिससे देश काल की दूरी है, उसका चिन्तन व्यर्थ चिन्तन

है। कारण कि चिन्तन मात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का विवेकपूर्वक सदुपयोग करने पर ही आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की उपलब्धि मंगलमय विधान से स्वत: होती है। अत: वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की प्राप्ति में उनका चिन्तन कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में बाधक ही होता है।

इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन सभी के लिए अहितकर ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आगे पीछे का चिन्तन किये बिना वर्तमान कर्तव्य-कर्म की सिद्धि संभव नहीं है तो यह मानना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कर्तव्य-निष्ठ मानव भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपना कर उससे वर्तमान कार्य को सुन्दरता पूर्वक या सांगोपांग करता है। घटनाओं का अर्थ पथ-प्रर्शन करता है और उनका चिन्तन तो राग-द्वेष में ही आबद्ध करता है जो ह्रास का मूल है। भविष्य की आशाओं में आबद्ध होना और लक्ष्य-पूर्ति के लिए वर्तमान कार्य को पूरा न करना भारी भूल है। इस भूल का बिना अन्त किये कभी भी भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता। कारण कि एकमात्र वर्तमान के सदुपयोग में ही भविष्य की उज्ज्वलता निहित है। वर्तमान की सरसता भविष्य

को सुन्दर बनाती है। वर्तमान उन्हीं का सरस होता है, जो प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करते हैं और अपने को अनूकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता के भय में आबद्ध नहीं रखते, अपितु उदारता तथा त्याग को अपना कर प्राप्त अनूकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करते हैं। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही साधक का विकास निहित है। परिस्थितियों में जीवन बुद्धि रखना प्रमाद है। इतना ही नहीं, प्रत्येक भाई-बहन को सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय-जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो वास्तविक जीवन है। पर यह तभी संभव होगा जब मानव सजगतापूर्वक व्यर्थ चिन्तन का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहे, जो विकास का मूल है।

व्यर्थ चिन्तन की प्रतीति अधिकतर तभी होती है जब साधक शान्ति का संपादन करता है। किसी कार्य में लगे रहने पर व्यर्थ चिन्तन का भास नहीं होता। विश्राम काल में ही व्यर्थ चिन्तन का प्रवाह प्रगट होता है, जिसके होते ही शान्ति भंग हो जाती है और साधक बलपूर्वक उसे मिटाने का प्रयास करता है, परन्तु सफल नहीं हो पाता, कारण कि न चाहने पर जो चिन्तन उत्पन्न हुआ है उसका

नाश तभी होगा जब उससे असहयोग कर लिया जाय तथा उससे तादात्म्य तोड़ दिया जाय। असहयोग करते ही उत्पन्न हुआ व्यर्थ चिन्तन निर्जीव हो जाता है और तादात्म्य मिटते ही समूल नाश हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने विश्राम अर्थात परम शान्ति का महत्त्व स्वीकार किया है। परम शान्ति सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस कारण उसका सुरक्षित रखना परम आवश्यक है। पर वह तभी संभव होगा जब व्यर्थ चिन्तन का नाश हो जाय। विश्राम की भूमि में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है और विश्राम में ही विचार का उदय तथा विरह की जागृति होती है। इस दृष्टि से विश्राम का संपादन मानव मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सभी को मान्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में विश्राम स्वतः सिद्ध है। पर उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास न होने के कारण विश्राम में प्रियता उदय नहीं होती। उसका परिणाम यह होता है कि विश्राम काल में आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन होने लगता है। विश्राम की प्रियता विश्राम से अभिन्न करने में समर्थ है। यह नियम है कि प्रियता जिसमें उदित होती है वह उसे उससे अभिन्न कर देती है जिसकी वह प्रियता है। इस दृष्टि से विश्राम के

वास्तविक महत्त्व को स्वीकार करना मानव मात्र के लिए परम आवश्यक है। बलपूर्वक किये हुए सार्थक चिन्तन से व्यर्थ चिन्तन नष्ट नहीं होता, अपितु व्यर्थ चिन्तन के त्याग से सार्थक चिन्तन स्वतः जागृत होता है। इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन के त्याग में ही पुरुषार्थ की परावधि है। व्यर्थ चिन्तन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ सार्थक चिन्तन साधक को मिथ्या अभिमान में ही आबद्ध रखता है जो ह्रास का मूल है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को शीघ्रातिशीघ्र व्यर्थ चिन्तन का अन्त करना अनिवार्य है।

नीरसता की भूमि में ही व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति होती है। नीरसता का नाश करने के लिए वर्तमान को सरस रखना अत्यन्त आवश्यक है। वह तभी संभव होगा जब आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग किया जाय। सुख का सदुपयोग सेवा तथा दुःख का सदुपयोग त्याग है। दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख हर्षित होना ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना का अन्त कर अहम् और मम से सर्वांश में रहित होना ही वास्तविक त्याग है। सेवा और त्याग में ही प्रत्येक परस्थिति का सदुपयोग निहित है। परिस्थितियों के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय नित्य-जीवन से

अभिन्नता और उत्कृष्ट परिस्थिति की प्राप्ति होती है, किन्तु परिस्थितियों में जीवन बुद्धि स्वीकार करना परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होना है, जिसके होते ही वर्तमान नीरस हो जाता है और व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। अतः प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही भविष्य की उज्ज्वलता निहित है। पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए वर्तमान कर्तव्य-कर्म को करना अनिवार्य है। भौतिकवादी विश्व के नाते, अध्यात्मवादी आत्मा के नाते एवं आस्तिकवादी प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं। यह नियम है कि जिसके नाते कार्य किया जाता है कर्ता अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। प्रीति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने व्यर्थ चिन्तन को त्याग वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाया है।

सूचना

राजस्थान राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

१ सन्त समागम भाग १ — २ सन्त समागम भाग २
३ मानव की माँग — ४ जीवन दर्शन
५ साधन तत्त्व — ६ चित्त शुद्धि

राज्य से तय हुई शर्तों के अनुसार ऊपर लिखी ६ पुस्तकों का पूरा सैट जिनका मूल्य रु० ११. २५ न० पै० है, बाद कमीशन १०) में नक़द मूल्य से दिया जाता है।

बिहार राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

१ सन्त समागम भाग १ — २ सन्त समागम भाग २
३ मानव की माँग — ४ साधन तत्त्व
५ चित्त शुद्धि — ६ सत्संग और साधन

ऊपर लिखी ६ पुस्तकों का पूरा सैट जिनका मूल्य रु० १०-२५ न. पै. है कमीशन बाद करने पर रु० ९-१२ न० पै० में दिया जाता है।

१—१००) रु० की पुस्तकें नक़द कीमत पर खरीदने या वी० पी० से मँगाने पर १५) प्रतिशत कमीशन दिया जाता है।

२—पुस्तक विक्रेताओं को विशेष कमीशन दिया जायगा। कृपया पत्र व्यवहार द्वारा पूछताछ करें।

मिलने का पता :—

मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) उत्तर प्रदेश